ओ३म्

आर्यसमाज के दस नियम

(संक्षिप्त व्याख्या)

प्रो. रत्न सिंह



ओ३म्

आर्यसमाज के दस नियम

(संक्षिप्त व्याख्या)

लेखक
प्रोफेसर रत्नसिंह

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली–६
दूरभाष : ३९१४९४५, ३९७७२१६
E-mail : ajayarya@ndb.vsnl.net.in
Website : www.vedicbooks.com
संस्करण : प्रथम, फरवरी, २००१
मूल्य : १४.०० रुपये
शब्द संयोजन : भगवती लेज़र प्रिंट्स
नई दिल्ली–६५, दूरभाष : ६४१४३५९
मुद्रक : स्पिडो ग्राफिक्स, दिल्ली

प्रस्तावना

क्रान्ति के अग्रदूत, आदित्य ब्रह्मचारी वेदोद्धारक, यज्ञ-प्रचारक, योग-प्रसारक गोभक्त, भारतीय संस्कृत प्रेमी महर्षि दयानन्द सरस्वती ने चैत्रशुक्ल ५, संवत् १९३२ तदनुसार १० अप्रैल १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना की। लगभग दो वर्ष पश्चात् लाहौर [अब पापिस्तान में] में आर्यसमाज की स्थापना की। बम्बई आर्यसमाज की स्थापना के समय जो नियम निर्मित किये गये थे, वे महर्षि दयानन्द ने नहीं बनाये थे। लाहौर आर्यसमाज स्थापना के समय नियमों का निर्माण महर्षि ने स्वयं अपनी आर्ष दृष्टि और ऋम्भरा प्रज्ञा से निर्मित किये थे।

महर्षि द्वारा निर्मित ये नियम बेजोड़ हैं। इन नियमों में चौथे नियम से लेकर अन्तिम दसवें नियम तक सात नियम तो ऐसे हैं जो सार्वभौम हैं। नास्तिक, आस्तिक, पुरानी, जैनी, किरानी, कुरानी—किसी भी मत, पन्थ और सम्प्रदाय को माननेवाला इन नियमों को मानने से इन्कार नहीं कर सकता। 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।' इस नियम का क्या कोई विरोध कर सकता है? "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्योद्देश्य है", इस नियम का क्या अपलाव किया जा सकता है, इस प्रकार अन्य नियम भी हैं।

हाँ, पहले नियम—"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है", का उच्चारण करते ही नास्तिक अलग हट जाएँगे। दूसरे नियम में ईश्वर के 'निराकार' और 'अजन्मा' विशेषणों को देखकर पौराणिक भी अलग हो जाएँगे। तीसरा नियम और समाज की शोभा और विशेषता है, जो संसार की किसी भी संस्था, सोसायटी, मत, पन्थ और सम्प्रदाय में नहीं मिलेगी।

आर्यसमाज के इन नियमों में गूढ़ रहस्य छिपे हुए हैं। आर्यसमाज के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का इन नियमों में समावेश है, मनुष्य के कर्त्तव्यों का निर्देश है, सार्वभौम भाई-चारे का सन्देश है। संक्षेप

मनुष्य के द्वारा करणीय सभी आवश्यक बातों का संकेत है।

इन नियमों की विस्तृत व्याख्या होनी चाहिए थी। आर्यजगत् के दार्शनिक विद्वान् प्रो० रत्नसिंह जी ने इन नियमों की व्याख्या लिखना आरम्भ किया। सन् १९७६ में साप्ताहिक जन-ज्ञान में पाँच नियमों की व्याख्या प्रकाशित हुई और यह लेखमाला बन्द हो गई। मेरे और स्वामी विद्यानन्द सरस्वती के बार-बार आग्रह और निवेदन करने पर नियमों की व्याख्या पूर्ण हो गई। व्याख्या पाण्डित्यपूर्ण, खोज़पूर्ण और महर्षि के ग्रन्थों से समर्थित है। शैली मनमोहक है। इस व्याख्या को पढ़कर पाठक के हृदय पटल पर महर्षि के व्यक्तित्व की छाप अङ्कित हो जाएगी। इस कृति के लिए प्रो० रत्नसिंह जी आर्यजगत् के धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रोफैसर महोदय में योग्यता है, सूझ-बूझ है, अपनी बात को प्रस्तुत करने की क्षमता है। यदि वे महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में बिखरे हुए दर्शनों के सूत्रों पर भी एक ग्रन्थ लिख दें तो अति कल्याणकर होगा। आशा है सुधी पाठक इसे स्वयं पढ़ेंगे और अन्यों को पढ़ने की प्रेरणा करेंगे।

वेद-मन्दिर
लेखरामनगर [इब्राहीमपुर]
दिल्ली-११००३६
दूरभाष : ७२०२२४९

विदुषामनुचरः
जगदीश्वरानन्द

प्राक्कथन

"इसलिए जो उन्नति करना चाहो तो 'आर्यसमाज' के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा।" यह विचार महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास में ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के गुण-दोषों की विवेचना करते हुए प्रकट किया है। महर्षि द्वारा ही आर्यसमाज की स्थापना चैत्र शुक्ल ५, शनिवार, संवत् १९३२ तदनुसार १० अप्रैल, सन् १८७५ को मुम्बई में हुई थी। वैसे तो इससे पूर्व राजकोट में आर्यसमाज स्थापित हो चुका था, जिसका कार्य ५-६ मास तक चलता रहा, परन्तु फिर एक अप्रत्याशित कारण से उसका कार्य बन्द हो गया। उधर मुम्बई का आर्यसमाज अभी तक चल रहा है, इसलिए मुम्बई में स्थापित आर्यसमाज की तिथि को ही आर्यसमाज-स्थापना-दिवस माना जाता है। मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना किस दिन हुई थी, इस विषय पर मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में दो मत हैं—१० अप्रैल और ७ अप्रैल। पं० युधिष्ठिर मीमांसक १० अप्रैल को सही मानते हैं जबकि सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा दिल्ली ने सन् १९३९ ई० में हुई अपनी बैठक में ७ अप्रैल को सही मानते हुए चैत्र शुक्ल १ संवत् १९३२ को आर्यसमाज-स्थापना-दिवस नियत किया है। अब सभी आर्यसमाजें इसी तिथि को आर्यसमाज स्थापना दिवस मनाती हैं।

आर्यसमाज के नियम

राजकोट आर्यसमाज के नियम स्वामी दयानन्द ने बनाये और वे मुद्रित कर लिये गये थे। इस समय उन नियमों की

एक भी प्रति उपलब्ध नहीं है। इसलिए उनके बारे में किसी भी प्रकार की कोई जानकारी नहीं है। मुम्बई में आर्यसमाज स्थापना के अवसर पर २८ अट्ठाईस नियमों की रचना की गई जो अगले दो वर्षों तक सब आर्यसमाजों को मान्य रहे। १९ अप्रैल, १८७७ ई० को स्वामीजी लाहौर पधारे, जहाँ उनको दीवान रतनचन्द दाढीवाले के बाग़ में ठहराया गया। कुछ धूर्तों ने दीवान साहब से शिकायत की कि दयानन्द को ईसाइयों ने उत्कोच देकर सब मनुष्यों को ईसाई बनाने के लिए नियत किया है, ऐसे नास्तिक को अपने बाग़ में ठहराने से आपको घोर पाप लगेगा। दीवान साहब उनकी बातों में आ गये और उन्होंने स्वामीजी से अन्य स्थान में जाकर ठहरने के लिए कहा। इस अवसर पर जिसने महाराज को आश्रय दिया वह खानबहादुर डॉक्टर रहीम खाँ थे। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपनी कोठी उनको ठहरने के लिए दे दी। यहाँ दो मास तक स्वामीजी का प्रचारकार्य चलता रहा। श्रोताओं की वैदिक धर्म में श्रद्धा बढ़ती गई और उनकी रुचि आर्यसमाज-स्थापित करने की हुई। श्रद्धालुजनों के आग्रह और सहयोग से डॉक्टर रहीम खाँ की कोठी पर ज्येष्ठ शुक्ल १३ संवत् १९३४ विक्रमी तदनुसार २४ जून १८७७ ई० को लाहौर आर्यसमाज की स्थापना की गई। लाहौर आर्यसमाज की स्थापना के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि आर्यसमाज के जो नियम मुम्बई में बने थे, वे संख्या और विस्तार में अधिक थे और उनमें कितनी ही बातें ऐसी थीं जो उप-नियमों के अन्तर्गत आनी चाहिएँ थीं, क्योंकि वे आर्यसमाज के उद्देश्य और मन्तव्य से नहीं, प्रत्युत आर्यसमाज के संगठन और सदस्यों के परस्पर व्यवहार से सम्बन्ध रखती थीं, अतः स्वामीजी ने उनका संशोधन करना उचित समझा और उनके स्थान पर वर्त्तमान दस नियम रचे। आज यही नियम सब आर्यसमाजों में प्रचलित हैं।

आर्यसमाज क्या है ?

इसका उत्तर एक वाक्य में यह दिया जा सकता है—"सत्य पर आधारित एक सार्वभौम आर्यसंगठन का नाम आर्यसमाज है।"

इस वाक्य के दो भाग हैं—पहला भाग—आर्यसमाज सत्य पर आधारित है। दूसरा भाग—यह एक सार्वभौम संगठन है। संक्षेपतः इनपर विचार किया जाता है। यह सिद्ध है कि महर्षि दयानन्द को सत्य बहुत प्रिय था। पुष्टि में निम्न तथ्य प्रस्तुत हैं—

१. अपने प्रसिद्ध अमरग्रन्थ का नाम सत्यार्थप्रकाश, अर्थात् सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश रक्खा है।

२. इसी ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध की अनुभूमिका में वे लिखते हैं—"मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है।"

३. आर्यसमाज मुम्बई की स्थापना के अवसर पर राजकृष्ण महाराज ने महर्षि दयानन्द से कहा—"नियमों में जीव-ब्रह्म के एकत्व के सिद्धान्त का समावेश होना चाहिए, पीछे से उसे छोड़ देंगे। ऐसा करने से हम अनेक लोगों को आर्यसमाज की ओर आकर्षित कर सकेंगे।" इसके उत्तर में महर्षि ने कहा—"मैं आर्यसमाज को असत्य पर कदापि स्थापित नहीं करूँगा।" (क्योंकि सत्य उन्हें बहुत प्रिय था)

४. क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य-जाति की उन्नति का कारण नहीं है। —सत्यार्थप्रकाशभूमिका

५. सर्वसत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्यमत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके, सबसे सबको सुख-लाभ पहुँचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

६. आर्यसमाज के दस नियमों में से प्रथम पाँच नियमों

में प्रत्येक नियम में 'सत्य' शब्द का प्रयोग हुआ है।

दूसरे भाग में कहा गया है कि आर्यसमाज एक सार्वभौम आर्यसंगठन है। यह सत्य है कि आर्यसमाज किसी देश-विशेष या वर्ग-विशेष तक सीमित संगठन नहीं है। संसार का कोई भी व्यक्ति जो इसके मन्तव्यानुसार आचरण करना स्वीकार करता है, इसका सदस्य बन सकता है। इसकी पुष्टि में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द के विचार प्रस्तुत हैं—

१. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। —छठा नियम

२. "यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर, याथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मत वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ।"

—सत्यार्थप्रकाशभूमिका

३. "मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमान्त्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता।" —स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

४. (प्रश्न) तुम्हारा मत क्या है ? (उत्तर) वेद, अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है, उस-उसका हम यथावत् करना-छोड़ना मानते हैं।

—सत्यार्थप्रकाश समु० ३

५. मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना के अवसर पर स्वामीजी ने अपने भाषण में कहा था—"हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है। मैं तो वेद के अधीन हूँ।"

नियमों पर एक दृष्टि

कर्त्तव्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्व के प्रति कर्त्तव्य, (२) अन्यों के प्रति कर्त्तव्य, (३) ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य। आर्यसमाज के दस नियमों में इन तीनों वर्गों के कर्त्तव्यों का संकेत मिलता है। प्रथम दो नियमों में ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य का संकेत है। ईश्वर का स्वरूप बतलाकर उसी की उपासना करने की बात कही है। नियम संख्या ३-४ और ५ में अपने प्रति कर्त्तव्यों का संकेत किया गया है। वे कर्त्तव्य हैं—वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना, सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग तथा सब काम धर्मानुसार करना। नियम संख्या ६,७,८,९ व १० में अन्यों के प्रति कर्त्तव्यों को बतलाया गया है। वे कर्त्तव्य इस प्रकार हैं—(क) संसार का उपकार करना, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना। (ख) सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना। (ग) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करना। (घ) अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहकर सबकी उन्नति करना और (ङ) सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना।

नियमों में वैदिक सिद्धान्त—आर्यसमाज का धर्म वेद है। वैदिक सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या महर्षि दयानन्दरचित ग्रन्थों में और उन सिद्धान्तों का संक्षेप 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में दिया गया है और उसका भी सार आर्यसमाज के नियमों में है। जो निम्न प्रकार है—

वैदिक सिद्धान्त

१. ईश्वर की सत्ता, जगत् का आदिमूल निमित्तकारण, वेद अपौरुषेय हैं। —पहला नियम

२. अद्वैतवाद, अवतारवाद, अनेकेश्वरवाद, मूर्त्तिपूजा का खण्डन। —दूसरा नियम

३. परम धर्म का उपदेश, दैनिक-जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए। —तीसरा, चौथा, पाँचवा नियम

४. आहार-विहार, वर्णाश्रम-व्यवस्था। —छठा नियम

५. यथा योग्य व्यवहार। —सातवाँ नियम

६. विद्या-अविद्या। —आठवाँ नियम

७. स्वार्थवाद, परार्थवाद, सामाजिक धर्म, स्वतन्त्रता व परतन्त्रता। —नवाँ, दसवाँ नियम

नियमों का क्रम—दर्शनशास्त्र की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—तत्त्वज्ञान और प्राचारशास्त्र या नीतिशास्त्र। तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत किसी पदार्थ के स्वरूप का वर्णन किया जाता है, अर्थात् जो पदार्थ जैसा होता है उसको वैसा कहा जाता है और वाक्य के विधेय में 'है' का प्रयोग किया जाता है। प्राचारशास्त्र का सम्बन्ध आचरण से होता है और इसके विधेय में 'चाहिए' का प्रयोग किया जाता है। 'चाहिए', 'है' पर आश्रित रहता है। आर्यसमाज के प्रथम तीन नियम तत्त्वज्ञान व ज्ञान-मीमांसा-सम्बन्धी हैं। इनमें ईश्वर की सत्ता, उसका स्वरूप, जगत् और आत्मा की सत्यता इन सब तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी और वेदोत्पत्ति ज्ञान-मीमांसा-सम्बन्धी विषयों का उल्लेख है। इनमें 'है' क्रिया का प्रयोग किया गया है। अन्तिम सात नियम प्राचार सम्बन्धी हैं और इनके विधेय में 'चाहिए' का प्रयोग किया गया है। इस तथ्य को यहाँ स्पष्ट किया जाता है।

अब देखिए कि प्रथम तीन नियमों के विधेय में 'है' का प्रयोग किया गया है।

पहला नियम — सब सत्य विद्या............परमेश्वर है।

दूसरा नियम — ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप.........सृष्टिकर्त्ता है।

तीसरा नियम — वेद सब सत्य विद्याओं............... परम धर्म है।

इसके बाद अगले सातों नियमों के विधेय में 'चाहिए' का प्रयोग है।

चौथा नियम — सत्य के ग्रहण करने............रहना चाहिए।

पाँचवा नियम — सब काम धर्मानुसार........करने चाहिएँ।

छठा नियम — संसार का उपकार.................. उन्नति करना (चाहिए)।

सातवाँ नियम — सबसे प्रीतिपूर्वक.................. वर्त्तना चाहिए।

आठवाँ नियम — अविद्या का नाश.................... करनी चाहिए।

नवाँ नियम — प्रत्येक को अपनी ही............ समझनी चाहिए।

दसवाँ नियम — सब मनुष्यों को.................... परतन्त्र रहना चाहिए तथा स्वतन्त्र रहना (चाहिए)।

इससे स्पष्ट है कि इन नियमों की रचना का क्रम बहुत तर्कपूर्ण है। इनके क्रम में किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार इन नियमों के शब्दों में कोई भी व्यक्ति तथा आर्यप्रतिनिधिसभा (प्रान्तीय वा सार्वदेशिक) किसी भी प्रकार की काट-छाँट, परिशोधन और परिवर्धन नहीं कर सकती। महर्षि दयानन्द ने जिस रूप में इनका निर्माण किया है, वही रूप सदैव रहेगा।

आर्यसमाजों के साप्ताहिक सत्संग में शान्तिपाठ से पूर्व आर्यसमाज के नियमों का सम्मिलित पाठ किया जाता है।

इसके अतिरिक्त अनेक आर्यशिक्षण-संस्थाओं में विद्यार्थियों को ये नियम कण्ठस्थ कराये जाते हैं। इस प्रकार आर्यजनों में इन नियमों का व्यापक प्रचार है। इन नियमों की भावना और सिद्धान्तों को सही प्रकार से समझ सकें, इस उद्देश्य से मैंने प्रस्तुत पुस्तक में नियमों की सरल व्याख्या करने का साहस किया है। अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार मैंने जैसा समझा है, वैसा लिख दिया है।

आशा है स्वाध्यायशील आर्यजन इस प्रयास से लाभान्वित होंगे और त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान दिलाने का कष्ट करेंगे।

प्रोफेसर रत्नसिंह
बी-२१, गान्धीनगर,
गाजियाबाद (उ०प्र०)

पहला नियम

सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

इस नियम के तीन भाग हैं—

१. सब सत्यविद्या, २. विद्या (सत्यविद्या) से जो पदार्थ जाने जाते हैं, ३. परमेश्वर उन सबका, अर्थात् सत्यविद्या और उससे जिन पदार्थों का बोध होता है, आदिमूल है।

यहाँ सत्यविद्या, पदार्थ तथा आदिमूल पदों के अर्थ विचारणीय हैं, यतः ये दसों नियम महर्षि दयानन्दजी द्वारा रचित हैं, अतः उक्त पदों का वही अर्थ ग्राह्य है, जो उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है।

सर्वप्रथम 'विद्या' शब्द के अर्थ पर विचार किया जाता है। इस शब्द के अर्थ ये हैं—

"जिससे ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर, उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम 'विद्या' है।"

—आर्योद्देश्यरत्नमाला, सं० १६

"जिससे पदार्थ को यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह 'विद्या' और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जाएँ वह 'अविद्या' कहाती है।"

—व्यवहारभानुः

"जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप बोध होवे वह विद्या कहाती है।"

—सत्यार्थप्रकाश, समु० ९

इन उद्धरणों का सार यही है कि 'विद्या' वह है जिससे संसार के समस्त पदार्थों, चेतन व अचेतन दोनों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। प्रायः लोक में विद्या का प्रयोग भिन्न अर्थ

में भी किया जाता है। जेब काटने व धोखा देने की कला को भी विद्या कहा जाता है। जादू, टोना व दूसरों को ठगना भी 'विद्या' है। क्या परमेश्वर इस प्रकार की विद्याओं का भी आदिमूल है ? यदि उक्त नियम में केवल विद्या शब्द का ही प्रयोग किया जाता तो कुछ व्यक्ति इस प्रकार की शङ्का कर सकते थे, यद्यपि यह शङ्का बहुत उथली है। महर्षि दयानन्दजी ने विद्या शब्द से पूर्व सत्य विशेषण रखकर इस प्रकार की शङ्का के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी। वैसे यदि गहन दृष्टि से देखा जाए तो महर्षि की दृष्टि में 'विद्या' और 'सत्यविद्या' में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु फिर भी नियम के भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ 'सत्यविद्या' पद का प्रयोग किया गया है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सत्यविद्या किसे कहते हैं ? सत्यविद्या उसे कहते हैं जो तीन काल में एकरस रहती है, जिसका विकास या ह्रास, अर्थात् उन्नति या अधोगति नहीं होती। यह अपरिवर्तनशील, नित्य व शाश्वत होती है, जैसे दो और दो का योग सदैव चार होता है। किसी भी काल में इसके योग में ह्रास व वृद्धि सम्भव नहीं। इस दृष्टि से मनुष्य के ज्ञान को सत्यविद्या की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उसका ज्ञान परिवर्तनशील है, उसमें उन्नति व अधोगति होती रहती है, अतः स्पष्ट है कि ईश्वरीय ज्ञान को ही सत्यविद्या कहा जा सकता है और उसी ज्ञान को वेद नाम से पुकारा जाता है। इस धारणा की पुष्टि तृतीय नियम से होती है। वहाँ लिखा है कि—"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।" इस प्रकार प्रस्तुत नियम में प्रयुक्त 'सत्यविद्या' पद का अर्थ हुआ 'वेद'। सत्यविद्या से पूर्व विशेषणरूप में सब पद रक्खा हुआ है, अतः 'सब सत्यविद्या' पद का अभिप्राय हुआ 'सब वेद', अर्थात् चारों वेद।

नियम का दूसरा भाग इस प्रकार है—"जो पदार्थ विद्या

से जाने जाते हैं।" इसका अर्थ हुआ कि 'वेद' से जिन-जिन पदार्थों का ज्ञान होता है। वेद का प्रतिपाद्य विषय क्या है, इसकी व्याख्या तृतीय नियम में की जाएगी। यहाँ पदार्थ पद का अर्थ विचारणीय है। तर्क-कौमुदी के अनुसार 'अभिधेयाः पदार्थाः', अर्थात् शब्द द्वारा व्यक्त किसी भी वस्तु को पदार्थ कहते हैं। इस अर्थ में संसार की सभी ज्ञेय वस्तुओं को पदार्थ कह सकते हैं। पदार्थों का वर्गीकरण करते हुए वैशेषिक दर्शन में छह पदार्थ माने गये हैं, जिनके नाम ये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। बाद में चलकर अभाव को भी सातवाँ पदार्थ मान लिया गया है। द्रव्य के ९ भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल दिग्, आत्मा (जीवात्मा व परमात्मा) तथा मन। सत्यार्थप्रकाश अष्टमसमुल्लास में महर्षि दयानन्दजी ने परमेश्वर व जीव के साथ ही काल और आकाश को भी अनादि माना है। अनादि पदार्थ कार्यरूप में परिणत न होने के कारण अपने निमित्तकारण की अपेक्षा नहीं रखते। यदि प्रस्तुत नियम में पदार्थ पद का प्रयोग उक्त अर्थ में किया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर अपना स्वयं का तथा जीवात्मा, काल व आकाश का निमित्तकारण है, अर्थात् वह इन सबको उत्पन्न करता है, किन्तु यह आशय महर्षि के सिद्धान्त के विरुद्ध है, अतः पदार्थ पद का अर्थ यहाँ पर कार्यजगत् करना ही समीचीन है, क्योंकि किसी शब्द का अर्थ प्रकरण और लेखक के आशय को लेकर किया जाता है।

नियम के तीसरे भाग में कहा गया है कि उन सबका, अर्थात् वेद और कार्यजगत् का परमेश्वर आदिमूल है। आदि का अर्थ है—जिसके पूर्व और परे कुछ न हो। मूल का अर्थ है कारण। सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास में सांख्यदर्शन के "मूले मूलाभावाद-मूलं मूलम्" सूत्र के अर्थ में महर्षि ने लिखा है कि—'मूल का मूल', अर्थात् 'कारण का कारण

नहीं होता।' इस अर्थ के आधार पर आदिमूल का अर्थ हुआ आदिकारण। सत्यार्थप्रकाश के इस प्रकरण में आदिकारण का अर्थ प्रकृति किया गया है। इस आधार पर कुछ विद्वान् बिना गम्भीरता से विचार किये प्रस्तुत नियम में प्रयुक्त आदिमूल शब्द का अर्थ प्रकृति लेकर इस नियम का यह अर्थ करने का प्रयत्न करते हैं कि परमेश्वर इस जगत् का उपादानकारण है, क्योंकि आदिमूल का अर्थ है प्रकृति और प्रकृति है जगत् का उपादानकारण। उनकी दृष्टि में आदिमूल का अर्थ उपादानकारण है, परन्तु यह व्याख्या सर्वथा अनुचित है और महर्षि के मन्तव्य के सर्वथा विरुद्ध। सत्यार्थप्रकाश अष्टमसमुल्लास में महर्षि ने प्रश्नोत्तररूप में इस विषय का विवेचन इस प्रकार किया है—

प्रश्न—जगत् के कारण कितने होते हैं?

उत्तर—तीन—एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। निमित्तकारण उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा उपादानकारण उसको कहते हैं, जिसके बिना कुछ न बने वही अवस्थान्तररूप होके बने और बिगड़े भी। तीसरा साधारणकारण उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो। निमित्तकारण दो प्रकार के हैं। एक, सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखनेवाला मुख्य निमित्तकारण परमात्मा। दूसरा, परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनानेवाला साधारण जीव। उपादानकारण, प्रकृति, परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि महर्षि के मन्तव्यानुसार ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं। नवीन वेदान्ती लोग मकड़ी का उदाहरण देकर ब्रह्म को जगत् का

उपादानकारण सिद्ध करते हैं। उनका विचार है कि जिस प्रकार बिना किसी बाह्य सामग्री की सहायता लिये अपने भीतर से तन्तु निकालकर मकड़ी जाला बना लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म अपने में से जगत् को बना आप जगदाकार हो जाता है। इस मत के खण्डन में महर्षि का कथन है कि—"जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादानकारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त, विकारी हो जावे और उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव कार्य में भी आते हैं।" ब्रह्म चेतन है, इसलिए पृथिव्यादि कार्य भी चेतन होने चाहिएँ, किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। इसका कारण यही है कि ईश्वर जगत् का केवल निमित्तकारण है; उपादानकारण नहीं। इस आधार पर प्रस्तुत नियम में आदिमूल का अर्थ निमित्तकारण ही हुआ, अतः इस नियम का भाव इस प्रकार हुआ—वेद और कार्यजगत् का निमित्तकारण परमेश्वर है। बीज रूप में इस नियम से आर्यसमाज के दो मौलिक-सिद्धान्तों की जानकारी मिलती है—(१) **वेद अपौरुषेय** हैं, (२) परमेश्वर जगत् का निमित्तकारण है। इसमें यह भी अन्तर्निहित है कि यह जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं और नवीन वेदान्तियों का ब्रह्मवाद का सिद्धान्त असत्य है। इसके साथ ही इस नियम में **भौतिकवाद** के इस मत का भी खण्डन हो जाता है कि जगत् बिना किसी चेतन सत्ता की सहायता के प्रकृति से स्वयं उत्पन्न हो जाता है। इन तीनों सिद्धान्तों का विवेचन करना यहाँ सम्भव न हो सकेगा, तथापि प्रथम सिद्धान्त—'वेद अपौरुषेय हैं', का संक्षेपतः वर्णन करना आवश्यक एवं उपयुक्त प्रतीत होता है।

वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है

आर्यसमाज की मान्यता है कि वेद ईश्वर द्वारा प्रदत्त वह सर्वप्रथम ज्ञान है जो मनुष्यों को सृष्टि-उत्पत्ति के साथ

दिया था। यह मान्यता केवल शब्दप्रमाण पर ही आधारित नहीं हैं, वरन् तर्क-सङ्गत भी है। वेद की अपौरुषेयता पर विचार करते समय हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है, जिसपर विचार करना आवश्यक है। वह यह है कि विभिन्न मतावलम्बी सभी लोग अपने-अपने धर्मग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। ऐसी अवस्था में किसको ईश्वरीय ज्ञान माना जाए और किसको नहीं? इसके उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि सब मतों के दावों को कसौटी पर कसकर देख लो जो उसपर खरा उतर जाए वही ईश्वरीय ज्ञान हो सकता है। यहाँ कतिपय कसौटियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

१. ईश्वरीय ज्ञान मानवसृष्टि के साथ ही सृष्टि के आरम्भ में मिलना चाहिए।

२. ईश्वरीय ज्ञान किसी देशविशेष की भाषा में न हो।

३. ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ में किसी देश का भूगोल व इतिहास नहीं होना चाहिए।

४. उसमें कोई भी बात सृष्टिक्रम के विपरीत न हो।

५. वह ज्ञान ईश्वर के गुण-कर्म और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए।

६. मानव के पूर्ण कल्याण के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है, वह उस ग्रन्थ में होना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन कसौटियों पर केवल वेद ही खरा उतरता है। वेद का प्रकाश ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों के हृदय में किया था। आर्यसमाज का दावा है कि वेद में न इतिहास है और न उसमें कोई सृष्टिक्रम के विरुद्ध बात है। वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के सम्बन्ध में कई शङ्काएँ प्रस्तुत की जाती हैं। उन सबका महर्षि दयानन्दजी ने

सत्यार्थप्रकाश सप्तमसमुल्लास और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्तिविषय प्रकरण में विस्तार के साथ तर्कसङ्गत समाधान किया है।

इस नियम की एक दूसरी व्याख्या

कुछ विद्वानों ने इस नियम की एक भिन्न व्याख्या की है उस पर भी विचार कर लेना चाहिए। उनके विचार में अन्वय करने के उपरान्त इस नियम का रूप यह होगा—"जो सब सत्यविद्या और पदार्थविद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।"

जो सबका अर्थ है—ईश्वर, जीव व प्रकृति। ये तीनों अनादि व अनन्त हैं।

सत्यविद्या कहते हैं ब्रह्मविद्या को। इसी को पदार्थविद्या कहते हैं।

पदार्थविद्या का अर्थ है सृष्टिविद्या-सम्बन्धी विद्या। यही भौतिक विज्ञान है। इसी को अपरा विद्या कहते हैं।

इस प्रकार इस नियम का यह अर्थ हुआ कि ब्रह्मविद्या और सृष्टिविद्या से ईश्वर, जीव व प्रकृति को जाना जाता है और ईश्वर इन सबका निमित्तकारण है।

यह अर्थ दोषपूर्ण है। इसमें कई आपत्तियाँ हैं। प्रथम आपत्ति तो यह है कि ईश्वर अपना स्वयं का तथा जीव व प्रकृति का निमित्तकारण नहीं है। द्वितीय आपत्ति यह है कि तीसरे नियम में आता है कि—'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक हैं। यदि सत्यविद्या का अर्थ ब्रह्मविद्या है तो क्या वेद में पदार्थविद्या नहीं है? तीसरे नियम में सत्यविद्या नहीं बल्कि सत्यविद्याओं लिखा है। इस अवस्था में सत्य-विद्या का अर्थ केवल ब्रह्मविद्या कैसे किया जाएगा? अतः इस नियम का जो अर्थ हमने पहले किया है, वही ठीक है।

जैसाकि हम प्राक्कथन में लिख चुके हैं कि आर्यसमाज

के दश नियमों का आधार वेद हैं, यहाँ प्रमाणरूप में इस नियम के आधार वेद-मन्त्र उद्‌धृत किये जाते हैं—

१. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

अर्थ—ऋतं यथार्थं सर्वविद्याधिकरणं वेदशास्त्रम् (यथार्थ सब विद्या का ख़ज़ाना वेदशास्त्र)

सत्यं—त्रिगुणात्मक प्रकृति जिसका नाम अव्यक्त, सत्, प्रधान है जो स्थूल व सूक्ष्म जगत् का कारण है (अर्थात् प्रकृति) वह भी (अध्यजायत) कार्यरूप में प्रकट हुई। भावार्थ यह है कि ईश्वर ने वेद की रचना की और कार्यजगत् को प्रकृति से उत्पन्न किया।

२. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छदाᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—यजुः० अ० ३१, मं० ७

अर्थ—उस परब्रह्म से (**ऋचः**) ऋग्वेद (**यजुः**) यजुर्वेद (**सामानि**) सामवेद और (**छन्दांसि**) अथर्ववेद ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं।

३. यस्मादृचो अपातक्षत् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमाण्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

—अथर्व० १०।७।२०

अर्थ—जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है उसी से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चारों उत्पन्न हुए हैं।

४. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः० १३।४

अर्थ—जो (**हिरण्यगर्भः**) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो (**भूतस्य**) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का (**जातः**) प्रसिद्ध (**पतिः**) स्वामी (**एकः**) एक ही चेतनस्वरूप

(**आसीत्**) था, जो (**अग्रे**) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (**समवर्त्तत**) वर्त्तमान था (**सः**) सो (**इमाम्**) इस (**पृथिवीम्**) भूमि (**उत**) और (**द्याम्**) सूर्यादि को (**दाधार**) धारण कर रहा है। हम लोग उस (**कस्मै**) सुखस्वरूप (**देवाय**) शुद्ध परमात्मा के लिए (**हविषा**) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (**विधेम**) विशेष भक्ति किया करें।

इस नियम से यह तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि आर्यसमाज एक ईश्वर–विश्वासी समाज है। स्वभावतः प्रश्न होता है कि वह ईश्वर कौन है? उसका क्या स्वरूप है? इसका उत्तर अगले नियम में दिया गया है।

दूसरा नियम

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

संसार के सभी अवैदिक आस्तिक (ईश्वर-विश्वासी) सम्प्रदायों ने अपने-अपने तथाकथित धर्म-ग्रन्थों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है, किन्तु उनमें एकरूपता का सर्वथा अभाव है। इसका कारण यह है कि साम्प्रदायिक लोगों ने ईश्वर का विवेचन तर्क के आधार पर न कर उसमें कल्पना का आश्रय लिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जब कोई श्रद्धालु जिज्ञासु इन मत-मतान्तरों द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन करता है तो वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि किस मत का ईश्वर वास्तविक है और किसका अवास्तविक। कोई ईश्वर को एक कहता है तो कोई अनेक, कोई उसे सर्वव्यापक मानता है, तो कोई उसे देशविशेष में स्थित मानता है। किसी ने उसे निराकार माना है तो दूसरे ने उसे साकाररूप में प्रस्तुत किया है। किसी का ईश्वर सगुण है तो किसी का निर्गुण। एक साधारण बुद्धि का व्यक्ति निर्णय नहीं कर पाता कि किसका ईश्वर सच्चा है और किसका झूठा?

महर्षि दयानन्दजी ने आर्यसमाज के दूसरे नियम में वेद के आधार पर ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, यह प्रथम नियम में सिद्ध हो चुका है। ईश्वर पूर्ण है, अतः उसका ज्ञान भी पूर्ण है। उसके ज्ञान वेद पर आधारित ईश्वर का स्वरूप निश्चितरूपेण सत्य व

वास्तविक होगा, इसमें सन्देह की गुंजाइश हो ही नहीं सकती। महर्षि ने ईश्वर का स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए उसके जिन गुणों का वर्णन कर उन्हें जिस क्रम में प्रस्तुत किया है, वह बड़ा विलक्षण है। आगे चलकर इसपर प्रकाश डाला जाएगा। इस नियम से अद्वैतवाद, अनेकेश्वरवाद, अवतारवाद व मूर्त्तिपूजा आदि कई अवैदिक विचारधाराओं का स्वतः खण्डन हो जाता है। इन सब बातों का दिग्दर्शन आगे चलकर होगा। सर्वप्रथम हम इस नियम में रक्खे हुए शब्दों पर क्रमशः विचार करते हैं—

सच्चिदानन्द—यह तीन शब्दों से मिलकर बना है। वे हैं सत्+चित्+आनन्द। इन तीनों का अर्थ पृथक्-पृथक् लिखते हैं—

सत्—(अस भुवि) इस धातु से सत् शब्द सिद्ध होता है—"यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत् सद्ब्रह्म" जो सदा वर्त्तमान, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानकालों में जिसका बाध न हो, अर्थात् जो त्रिकालाबाध्य हो, उस परमेश्वर को सत् कहते हैं। परमेश्वर सदा विद्यमान रहता है, उसका नाश कभी नहीं होता, इसलिए उसे सत् कहते हैं। राम और कृष्णादि महापुरुषों को ईश्वर नहीं कह सकते, क्योंकि वे तीनों काल में विद्यमान नहीं रह सकते थे।

चित्—जो चेतनस्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्यासत्य का जनानेहारा है, इसलिए उस परमात्मा का नाम 'चित्' है। ईश्वर जीवात्मा को सत्यासत्य का बोध किस प्रकार कराता है, इस सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश सप्तम व द्वादश समुल्लास में महर्षि ने लिखा है कि पापाचरणोच्छा समय में भय, शङ्का, लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उत्पन्न करके ईश्वर जीवात्मा को सत्यासत्य का बोध कराता है।

आनन्द—जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते

और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्द-युक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम आनन्द है।

इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को 'सच्चिदानन्दस्वरूप' कहते हैं, अर्थात् सत्स्वरूप होने से सत्, चित्स्वरूप होने से चित् और आनन्दस्वरूप होने से आनन्द और इन तीनों को मिलाकर सत्+चित्+आनन्द=सच्चिदानन्दस्वरूप कहा गया है।

निराकार—जिसका कोई भी आकार नहीं और जो न कभी शरीर धारण करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम 'निराकार' है।

सर्वशक्तिमान्—"सर्वा: शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः" जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता, अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरा करता है, इसलिए उस परमात्मा का नाम सर्वशक्तिमान् है। यहाँ 'सर्व' शब्द का अर्थ 'सब' नहीं है बल्कि इसका अर्थ है 'योग्य सब', अर्थात् जिसमें सम्पूर्ण योग्य शक्तियाँ हैं। इसका आशय यह है 'अपना कार्य करने में निरपेक्षता', अर्थात् अपने कार्य करने में किसी अन्य पर आश्रित नहीं। यही सर्वशक्तिमत्ता है। '**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः**', अर्थात् करने योग्य और न करने योग्य को करने की सामर्थ्य रखनेवाले को सर्वशक्तिमान् नहीं कहते।

न्यायकारी—न्यायकर्त्ता को न्यायकारी कहते हैं। न्याय उस पक्षपातरहित धर्मरूप आचरण को कहते हैं, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो। ईश्वर को न्यायकारी इसलिए कहते हैं कि उसका स्वभाव ही न्याय, अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने का है।

दयालु—जो अभय का दाता, सत्यासत्य सर्वविद्याओं को जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों को यथायोग्य

दण्ड देनेवाला है, इससे परमात्मा का नाम दयालु है।

अजन्मा—जो स्वयं जन्म नहीं लेता है, अर्थात् जन्मरहित को अजन्मा कहते हैं।

अनन्त—जिसका अन्त अवधि, मर्यादा, अर्थात् इतना लम्बा, चौड़ा, छोटा, बड़ा है—ऐसा परिमाण नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाम 'अनन्त' है।

निर्विकार—जिसमें कोई विकार, अर्थात् दोष न हो।

अनादि—जिसका आदिकारण कोई भी नहीं है, उसको अनादि कहते हैं।

अनुपम—जो उपमारहित है, अर्थात् अत्युत्कृष्ट है।

सर्वाधार—जो विश्वभर का आधार शक्तिरूप है।

सर्वेश्वर—जो सबका ईश्वर है।

सर्वव्यापक—जो सब जगत् में व्यापक है।

सर्वान्तर्यामी—जो सबके अन्तर् को जाननेवाला और सब जगत् को नियम में रखनेवाला है।

अजर—जो जीर्ण, अर्थात् क्षीण नहीं होता, वह जरारहित अजर कहाता है।

अमर—जिसको मरणधर्म हो ही नहीं और सदैव वर्त्तमान रहे।

अभय—जिसको किसी प्रकार का भय न हो, अर्थात् भयरहित।

नित्य—जो निश्चल, अविनाशी है।

पवित्र—जो स्वयं शुद्ध, सब अशुद्धियों से पृथक् और सबको पवित्र करनेवाला है, उसको पवित्र कहते हैं।

सृष्टिकर्त्ता—जो सब जगत् की रचना करनेवाला है।

उपासना—उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है। इसका अभिप्राय अष्टाङ्ग योग से परमात्मा के समीप होकर

उसके आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना।

उसी की उपासना करनी योग्य है—जिस ईश्वर का लक्षण इस नियम में वर्णन किया गया है, उसी की उपासना करनी चाहिए। जो ऐसा न हो उसको न तो ईश्वर मानना चाहिए और न उसकी उपासना करनी चाहिए।

यह नियम आकार में सब नियमों से बड़ा है। इसमें ईश्वर–सम्बन्धी दार्शनिक पक्ष बहुत सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया गया है। यहाँ ईश्वर के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, उनसे कई अवैदिक मन्तव्यों का स्वतः खण्डन हो जाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव व ब्रह्म में अभेद है।

इस नियम में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता बतलाकर जगत् के मिथ्यात्व का तथा ईश्वर की उपासना करनी योग्य है, कहकर उपासक जीव का ईश्वर से अभेद होने का खण्डन कर दिया गया है। सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी तथा 'उसी की' शब्दों से अनेकेश्वरवाद का निषेध हो जाता है। सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने ईश्वर को महत्तम सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। उसके दर्शन की अभिलाषा भी सभी को रहती है, परन्तु योगाभ्यास तथा शुद्धान्तःकरण के बिना उसका दर्शन सम्भव नहीं है, अतः इनके अभाव में अनेक मतावलम्बियों ने ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में कल्पना से काम लेकर अपने मापदण्ड से ही उसका वर्णन किया है। मनुष्य स्वयं बिना शरीर व इन्द्रियों के कर्म करने में अशक्य है, अतः इन लोगों ने यही समझ लिया कि वह ईश्वर भी हमारी तरह देहधारी है। ईश्वर को निराकार बतलाकर उसके साकार होने का निषेध कर दिया गया है। यदि ईश्वर साकार हो तो उसके नाक, कान, हाथ, पैर आदि अवयवों का बनानेवाला कोई दूसरा होना चाहिए। यदि यह कहा जाए कि वह बिना क़िसी अन्य की अपेक्षा के स्वयमेव साकार हो जाता है तो

इससे भी यह सिद्ध होता है कि साकार होने से पूर्व वह निराकार था। यदि ईश्वर को व्यापक न मानोगे तो उसमें सर्वज्ञता आदि गुणों का भी अभाव मानना पड़ेगा। इस प्रकार के गुणों से रहित एकदेशी, साकार ईश्वर वस्तुतः ईश्वर तो नहीं होगा वह कोई सांसारिक बड़ा व्यक्ति अवश्य हो सकता है। ईश्वर के साकार न होने से उसके अवतार लेने का प्रश्न भी पैदा नहीं होता।

तर्क के आधार पर ईश्वर को एकदेशी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो एकदेशी होवे तो वह सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका स्रष्टा, सबका धर्त्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं हो सकता। ऐसा न हो सकने का कारण यह है कि कर्त्ता जहाँ उपस्थित नहीं है वहाँ वह क्रिया नहीं कर सकता। इस नियम में ईश्वर को न्यायकारी व दयालु दोनों बतलाया गया है। वादी आपत्ति करता हुआ कहता है कि ये दोनों गुण परस्पर विरोधी हैं और तर्कशास्त्र के नियमानुसार एक वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण उपस्थित नहीं रह सकते, अतः ईश्वर या तो न्यायकारी है या दयालु—दोनों नहीं। सत्यार्थप्रकाश सप्तमसमुल्लास में महर्षि दयानन्दजी ने विस्तारपूर्वक इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत किया है। वस्तुतः न्याय और दया में कोई भेद नहीं है। दोनों का प्रयोजन अपराधी को दुःख से हटाकर सुख पहुँचाना है। संसार में सुख-दुःख की व्यवस्था से ईश्वर का न्याय स्पष्ट है और उसकी दया तो यही है कि उसने संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न करके जीवों के कल्याण के लिए उन्हें दिये हुए हैं। ईश्वर को दयालु माननेवाले आर्यसमाजी का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह स्वयं भी ईश्वर के इस गुण को अपने जीवन में धारण कर अन्य जीवों पर दया करे, हिंसा से सदैव पृथक् रहे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मांसाहारी व्यक्ति आर्यसमाज का सदस्य नहीं बन सकता है।

'ईश्वर सर्वशक्तिमान् है', के सही अभिप्राय को न समझकर अनेक सम्प्रदायों ने अनेक चमत्कारों को जन्म दिया है। उन्होंने यह समझा है कि सर्वशक्तिमान् होने से ईश्वर सब-कुछ कर सकता है। वास्तव में सर्वशक्तिमान् शब्द का यह सही अर्थ नहीं है। अनेक काम ऐसे हैं, जिन्हें ईश्वर नहीं कर सकता है। यथा—अपने समान दूसरे ईश्वर की रचना करना, अपनी हत्या करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि। सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास में इस प्रकार लिखा है—'ईश्वर अपने काम, अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था में किञ्चित् भी किसी की सहायता नहीं लेता, अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।' परमेश्वर अपने और दूसरों के गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। उसके नियम सत्य व पूर्ण हैं, इसलिए उनमें वह परिवर्तन नहीं कर सकता।

इस नियम में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता कहा गया है। नास्तिक लोगों को ईश्वर का सृष्टिकर्त्ता होना स्वीकार नहीं है। सत्यार्थप्रकाश अष्टसमुल्लास में प्रश्नोत्तर रूप में महर्षि ने इस विषय पर प्रकाश डाला है।

प्रश्न—इस जगत् का कर्त्ता न था, न है और न होगा, किन्तु अनादिकाल से यह जैसा-का-वैसा बना है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई न कभी विनाश होगा?

उत्तर—बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया वा क्रिया-जन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग विशेष से रचना दीखती है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से बनता है वह संयोग के पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता, चूँकि यह जगत् कार्यरूप है, अतः इसका निमित्तकारण अवश्य होना चाहिए।

इसपर वादी कहता है कि जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हो तो ईश्वर का कर्त्ता कौन है ? इसके उत्तर में महर्षि का कथन है कि—"कर्त्ता का कर्त्ता और कारण का कारण कोई भी नहीं हो सकता, क्योंकि कर्त्ता और कारण के होने से ही कार्य होता है। जिसमें संयोग-वियोग नहीं होता, जो प्रथम संयोग-वियोग का कारण है, उसका कर्त्ता वा कारण किसी प्रकार नहीं हो सकता।"

धार्मिक क्षेत्र में ईश्वर की सगुणता व निर्गुणता के प्रश्न पर भी पर्याप्त विवाद रहता है। कुछ लोगों का विचार है कि ईश्वर सगुण है, जबकि दूसरे लोग उसे निर्गुण समझते हैं। इस विचारधारा के मूल में यह भ्रान्ति काम कर रही प्रतीत होती है कि ईश्वर सगुण व निर्गुण दोनों नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी गुण हैं और एक वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण रह नहीं सकते जैसाकि हम पूर्व लिख चुके हैं। इस भ्रान्ति के निवारण हेतु महर्षि दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश सप्तमसमुल्लास में लिखा है—"जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो, किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान-बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहाता है।" प्रस्तुत नियम में ईश्वर की सगुणता व निर्गुणता दोनों का समावेश है। सच्चिदानन्द-स्वरूप, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता से उसकी सगुणता और निराकार, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, अजर, अमर

और अभय से उसकी निर्गुणता का परिचय मिलता है।

इस नियम में प्रयुक्त शब्दों का चयन एवं क्रम बड़ा बुद्धिसङ्गत है। शब्दों के क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। एक काल्पनिक संवाद से हम अपने विचार को स्पष्ट करेंगे। एक जिज्ञासु महर्षि दयानन्दजी से ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न करता है और महर्षि उसका उत्तर देते हैं। इसी क्रम में जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ईश्वर कैसा है? (उत्तर) ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। ईश्वर आनन्दस्वरूप है, इसलिए वह हमसे श्रेष्ठ व उत्तम है। अपने से उत्तम वस्तु को देखने की इच्छा स्वभावतः सबमें रहती है, अतः जिज्ञासु इसी स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रश्न करता है कि उस ईश्वर को मुझे दिखाओ। महर्षि जिज्ञासु के अभिप्राय को समझ लेते हैं कि वह इन भौतिक नेत्रों से ही ईश्वर के दर्शन करना चाहता है जोकि सम्भव नहीं है, अतः महर्षि उत्तर देते हैं कि वह ईश्वर तो निराकार है। यह सुनकर जिज्ञासु का हृदय बैठ जाता है, जैसेकि दूध में उफान आने पर पानी का छींटा मारने से दूध नीचे बैठ जाता है। जिज्ञासु सोचता है कि जो ईश्वर आकार-रहित है उसमें शक्ति भी नहीं होगी। ऐसी शङ्का करने पर महर्षि कहते हैं कि बात ऐसी नहीं है, वह ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है। यहाँ यह शङ्का हुई कि जो राजा अपने राज्य में सर्वशक्तिमान् होता है, जिसके ऊपर कोई अंकुश नहीं होता वह प्रायः अत्याचारी हो जाता है, उसके यहाँ न्याय के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इस शङ्का के किये जाने पर महर्षि उत्तर देते हैं कि वह ईश्वर तो न्यायकारी है। प्रायः न्याय और दया को विरोधी समझकर यह धारणा बना ली गई है कि ईश्वर न्यायकारी और दयालु दोनों नहीं हो सकता। इस भ्रान्ति का निवारण करने के लिए ही महर्षि ने लिखा है कि ईश्वर न्यायकारी के साथ-साथ दयालु भी है। किसी व्यक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के

लिए हम उसका नाम जानने के साथ ही उसकी आयु की जानकारी भी प्राप्त करते हैं। यह जानने के बाद कि ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी व दयालु है, जिज्ञासु पूछता है कि ऐसे महान् ईश्वर का जन्म कब हुआ था? उत्तर में महर्षि कहते हैं कि ईश्वर का जन्म कभी नहीं होता, वह तो अजन्मा है। जिसका जन्म नहीं उसका अन्त भी नहीं। इसी नियम से ईश्वर अनन्त है। जिन पदार्थों का जन्म होता है उनका अन्त भी अवश्यम्भावी है जैसे मनुष्य देह और यह भी निर्विवाद है कि जिसका जन्म व अन्त होगा उसमें मनुष्य-देहवत् विकार अवश्य उत्पन्न होंगे। इसके विपरीत, चूँकि ईश्वर अजन्मा व अनन्त है इसीलिए वह निर्विकार है, चूँकि वह अजन्मा और अनन्त है, इसलिए वह अनादि भी है। यह सब-कुछ सुनकर जिज्ञासु कहता है कि—हे महर्षे! मेरी समझ में यह सब-कुछ नहीं आता। आप मुझपर दया करके कुछ उपमाओं के सहारे से उस ईश्वर का स्वरूप समझाइए। इसपर महर्षि कहते हैं कि वह ईश्वर तो अनुपम है। भौतिक उपमाओं से अभौतिक ईश्वर को नहीं समझाया जा सकता है। जिज्ञासु पूछता है कि अच्छा यह तो बतलाइए कि उस ईश्वर से मेरा कोई सम्बन्ध है या नहीं? इसपर महर्षि कहते हैं कि तुझसे ही नहीं वरन् समस्त जगत् से उसका सम्बन्ध है। वह सर्वाधार व सर्वेश्वर है। वह सर्वाधार व सर्वेश्वर है, इसीलिए वह सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी भी है। यहाँ जिज्ञासु को यह शङ्का होती है कि जो ईश्वर सर्वाधार व सर्वेश्वर है, वह सारे जगत् की रचना व धारणा करते-करते जीर्ण हो जाता होगा। इस शङ्का के निवारण में महर्षि कहते हैं कि वह ईश्वर अजर व अमर है, चूँकि वह न बूढ़ा होता और न कभी मरता है, इसलिए उसे कोई भय नहीं, अतः वह अभय है। अजर, अमर, अभय होने का फल है उसका नित्य व पवित्र होना। जिज्ञासु पूछता

है कि वह ईश्वर क्या करता है ? उत्तर में कहा गया कि वह सृष्टिकर्त्ता है। जिज्ञासु ने जब ईश्वर का स्वरूप समझ लिया तो महर्षि ने उसको उसके कर्त्तव्य की ओर संकेत दिया कि तू उसी ईश्वर की उपासना किया कर और किसी की नहीं।

इस नियम के आधार—वेद-मन्त्र

१. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ —यजुः०, अ० ४०, मं० ८

अर्थ—परमात्मा सर्वव्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयं सिद्ध, जीव को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है। वह अजन्मा, निराकार, शुद्ध और पवित्र है।

२. यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य।
स पवस्व सहस्रजित्॥ —ऋ० ९।५५।४

अर्थ—जो परमेश्वर सबको जीतता है, आप नहीं जीता जाता, सर्वथा सर्वदा निर्भय, शत्रुनाशक है, वह असंख्यों का जीतनेवाला हमें पवित्र एवं सुरक्षित करे।

इससे ईश्वर का अभय होना सिद्ध है।

३. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ —यजुः० ३१।१८

अर्थ—वह परमेश्वर सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करनेवाला और अविद्या-अन्धकार, अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है। उसी की उपासना सबको करनी उचित है। उससे भिन्न की नहीं।

तीसरा नियम

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

इस नियम के दो भाग हैं। प्रथम भाग में वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक कहा गया है। अपनी संज्ञा करके तो वेद संख्या में एक ही है, इसी कारण इस नियम में वह एक वचन से ग्रहण किया गया है। इससे यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि अर्थभेद से भी पुस्तकरूप में वह एक ही है। इस रूप में वेद चार हैं जिनके नाम हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। नियम के द्वितीय भाग में आर्यों के मुख्य कर्त्तव्य का निर्देश किया गया है।

अब से एक शती पूर्व वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक बतलाकर महर्षि दयानन्दजी ने बड़े साहस का परिचय दिया है। इसपर संक्षेप में यहाँ विचार करना आवश्यक है। अब से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध के पश्चात् भारत ही नहीं समस्त संसार का अधःपतन आरम्भ हो चुका था। सच्चे वैदिक विद्वानों के अभाव में वेद के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ फैलने लगी थीं। आर्यों के हृदय में वेद के प्रति आस्था तो रही, किन्तु इस आस्था का उपयोग घृणित अनैतिक कृत्यों और अन्धविश्वासों के समर्थन में किया जाने लगा। मध्यकाल में शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, सायण, उव्वट, महीधर आदि भाष्यकारों ने वेद को परमप्रमाण माना, किन्तु उन्होंने कुछ ऐसी भयङ्कर भूलें भी कीं जिनके कारण अनेक पाश्चात्य विद्वानों और उनका अन्धानुकरण करनेवाले भारतीय विद्वानों ने वेदों के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएँ बना लीं। इनमें से कुछ इस प्रकार

हैं—

१. वेदशब्द से अभिप्राय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार मन्त्रसंहिताओं से है। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने इन चारों वेदों का प्रकाश किया। वेदों की व्याख्यारूप में बहुत काल पश्चात् ऋषियों ने ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक व उपनिषदों की रचना की। केवल चार वेद ही ईश्वरकृत होने से स्वतःप्रमाण हैं, शेष ग्रन्थ परतःप्रमाण हैं। इन मध्यकालीन आचार्यों और भाष्यकारों ने वेदेतर ग्रन्थों—ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषदों का भी वेद में समावेश कर लिया। ब्राह्मणग्रन्थ व उपनिषदों में नचिकेता, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी, जनक, अश्वपति, हरिश्चन्द्र इत्यादि का इतिहास है। इन ग्रन्थों को वेद मानने से एक भ्रान्ति यह फैल गई कि वेद में इतिहास है। सायण, महीधर और उव्वट आदि के भाष्य का अनुकरण करके पाश्चात्य विद्वानों ने इस विचारधारा को बहुत फैलाया। वेदों में इतिहास की भ्रान्ति का एक प्रमुख कारण यह है कि अनेक पौराणिक पुरुषों, राजाओं, ऋषियों, नदियों आदि के नाम वेदों में उपलब्ध हो जाते हैं। वेदों में आये हुए ऐसे अनेक नाम किसी व्यक्ति या स्थान-विशेष के वाचक न होकर यौगिक है और यौगिक होने के कारण ही गुणवाची हैं।

२. कुछ आचार्यों ने वेद-मन्त्रों के आधार पर यज्ञों में पशुहिंसा का विधान सिद्ध कर दिया जबकि मन्त्रसंहिताओं में इसका कहीं भी विधान नहीं है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अनेक विचारशील लोगों को वेदों से घृणा हो गई।

३. इन भाष्यकारों ने अपने ग्रन्थों में एक ईश्वर के स्थान पर सैकड़ों देवी-देवताओं की पूजा का विधान किया जो वस्तुतः वैदिक-शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध था। वेदों में सैकड़ों मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें स्पष्टतया एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्दजी ने

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

(प्रश्न) कितने ही आजकल के आर्य और यूरोप देशवासी, अर्थात् अंग्रेज आदि लोग इसमें ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्यलोग भूतों की पूजा करते थे, फिर पूजते-पूजते बहुत काल पीछे उन्होंने ईश्वर को भी पूज्य जाना था। (उत्तर) यह उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि आर्यलोग अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं।

—ऋ०भा०भू० वेदविषयविचारविषय

४. इन लोगों ने वेद-मन्त्रों के ऐसे अर्थ किये हैं, जो सर्वथा असत्य, अश्लील अयुक्त और असम्भव है। "गणानां त्वा गणपति....." मन्त्र का महीधर ने इतना अश्लील अर्थ किया है कि उसको पढ़कर लज्जा के मारे सिर नीचे झुक जाता है। महर्षि दयानन्दजी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस मन्त्र का सही अर्थ देने के बाद दुःख से लिखते हैं कि— 'विचारना चाहिए कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है।'

जहाँ तक पाश्चात्य वैदिक विद्वानों का सम्बन्ध है, वे इन मध्यकालीन भारतीय आचार्यों व भाष्यकारों से एक कदम आगे बढ़ गये। इन लोगों ने भारतीय आचार्यों की भाँति वेदों को पवित्र व ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार न कर इतना मात्र कहा कि वे मानव पुस्तकालय में प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इन लोगों ने मध्यकालीन आचार्यों के भाष्यों का अनुवाद किया है, अतः जो दोष उनके भाष्यों में थे वे इनके अनुवाद में भी रहे। एक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह रही कि इन पाश्चात्य विद्वानों के मन में विकासवाद में विश्वास के कारण यह भावना घर किये हुए थी कि चूँकि वेदों की रचना मानवजाति के प्रारम्भिक काल

में असभ्य, जङ्गली व अशिक्षित लोगों ने की थी, इसलिए वेदों में कोई उच्चकोटि का विज्ञान व दार्शनिक विचार नहीं मिल सकते। प्रो० मैक्समूलर जैसे भारी विद्वान् ने एक स्थान पर लिख ही डाला कि—"That the Veda is full of childish, silly even to our minds monstrus conceptions, who would deny? But even these monstrosities are interesting and instructive."

अर्थात् वेद मूर्खतापूर्ण और राक्षस के समान विकराल, बेहूदा विचारों से भरपूर हैं, इससे कौन इन्कार कर सकता है, किन्तु ये भी मनोरञ्जक व शिक्षाप्रद हैं।

ऐसी विषम स्थिति में महर्षि दयानन्दजी का प्रादुर्भाव हुआ था। अपने अगाध पाण्डित्य से उन्होंने सहस्रों वर्षों से जमा होते हुए कूड़े-करकट के नीचे से वेदों को निकालकर ऊपर रख दिया। उन्होंने इस भ्रान्त धारणा को दूर किया कि वेद धूर्त और निशाचरों की पुस्तक हैं और ये गड़रियों के गीत हैं। इस भ्रान्त धारणा के स्थान पर उन्होंने आर्यसमाज के प्रस्तुत नियम में यह स्थापना की कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि क्या वेदों में सभी प्रकार की विद्याएँ उपस्थित हैं। गत पचास वर्षों में विज्ञान ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। ऐसे अनेक यन्त्रों का निर्माण किया है, जिनकी हमारे पूर्वज कल्पना भी नहीं कर सकते थे। मानव ज्ञान क्रमशः विकास की ओर अग्रसर है। क्या वेद-ज्ञान इस नियम का अपवाद है। इसके उत्तर में हम यही कहना चाहते हैं कि ईश्वर के नियम व उसका ज्ञान एकरस, अखण्डित व अपरिवर्तनशील होता है। इसलिए वेद में वर्णित ज्ञान में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। वेद के अन्दर जो नाना प्रकार के विज्ञान के सिद्धान्त वर्णन किये हैं, वे गणितविद्या के समान ऐसे सत्य हैं कि उनमें कुछ भी संशोधन व परिवर्तन

नहीं हो सकता। वेद में सब सत्य विद्याएँ हैं, कहने का आशय यह है कि बीजरूप में सब सत्य विद्या उसमें हैं। अपनी बुद्धि से आगे चलकर मनुष्य उस बीजरूप विद्या का विस्तार करता है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि लिखते हैं कि—"वेदों में दो विद्या हैं—एक अपरा, दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा-विद्या अपराविद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल पराविद्या है।"

—ऋ०भा०भू० वेदविषयविचार

हमारा विश्वास है कि वेद में परमेश्वर ने मनुष्य के लिए उपयोगी सब प्रकार का ज्ञान दे दिया है। वेद में मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक व सामाजिक कर्त्तव्यों का उपदेश है। अपने प्रति, अन्यों के प्रति व ईश्वर के प्रति हमारे कर्त्तव्य कर्मों का वहाँ वर्णन किया गया है। अनेक प्रकार की भौतिक व आध्यात्मिक विद्याओं का वेद में प्रतिपादन किया गया है। कुछ विद्याओं का यहाँ उल्लेखमात्र पर्याप्त होगा। वे हैं—राजनीति, सैन्य एवं युद्ध, शिक्षाविज्ञान, ऋतुविज्ञान, अग्नि-विज्ञान, विमानविज्ञान, वृष्टिविज्ञान, गणितविज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, यातायात, सिंचाई, उद्योग-धन्धे, कृषिविज्ञान, पशु-पक्षी-पालन, गृह-निर्माण इत्यादि। महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में लिखा है—"वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं—(१) एक विज्ञान, अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (२) दूसरा कर्म, (३) तीसरा उपासना और (४) चौथा ज्ञान है। इसी पुस्तक में अन्यत्र लिखा है कि वेद में सम्पूर्ण विद्या हैं, उनमें मिथ्या कुछ भी नहीं है। इस तथ्य की जानकारी उस समय होगी जबकि

चारों वेद का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्यापुस्तक वेद का परमेश्वररचित होना भूगोलभर में विदित हो जाएगा और यह भी प्रगट हो जाएगा कि ईश्वर-कृत सत्य पुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है।''

प्रस्तुत नियम के दूसरे भाग में महर्षि ने आर्यों के परम धर्म को बतलाया है और वह है वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना। इस नियम के माध्यम से महर्षि ने मानवमात्र के सामने एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। महर्षि के प्रादुर्भाव से पूर्व सभी मनुष्यों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था। जन्मजात ब्राह्मणों तक ही वेद का पढ़ना-पढ़ना सीमित हो चुका था। शूद्र और सब वर्णों की स्त्रियों को एक ही श्रेणी में रखकर उन्हें वेद-ज्ञान से वंचित कर दिया गया था। ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य में श्री शङ्कराचार्य ने लिखा है कि—''इसलिए भी शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं, क्योंकि स्मृति के द्वारा इनके लिए वेद के सुनने का, पढ़ने का निषेध करते हुए स्मृति में कहा है कि यदि शूद्र वेद के शब्द सुन ले तो उसके कान को सीसे और लाख से भर देना चाहिए। शूद्र चलता-फिरता शमशान है, इसलिए उसके समीप अध्ययन भी नहीं करना चाहिए। वह बिना सुने कैसे अध्ययन कर सकता है? वेद के उच्चारण करने पर जीभ काट डालने और शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालने का विधान है।'' श्री शङ्कराचार्य स्त्रियों का भी वेदाध्ययनाधिकार नहीं मानते थे। श्री रामानुजाचार्य, श्री माध्वाचार्य, श्री बल्लभाचार्य तथा सायणाचार्य का भी यही मत था। सहस्रों वर्षों में महर्षि दयानन्द पहले महापुरुष थे जिन्होंने इस अन्याय के विरोध में अपनी आवाज़ उठाई। इस विषय में महर्षि के मन्तव्य को सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास से उद्‌धृत करते हैं—

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र वेद पढ़ें? जो ये पढ़ेंगे तो

हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है जैसा यह निषेध है—**स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः।** स्त्री और शूद्र न पढ़े यह श्रुति है।

उत्तर—सब स्त्री और पुरुष, अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआँ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल-कल्पना से हुई हैं। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं और सब मनुष्यों के वेदादिशास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥

परमेश्वर कहता है कि जैसे मैं (**जनेभ्यः**) सब मनुष्यों के लिए (**इमाम्**) इस (**कल्याणीम्**) कल्याण, अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (**वाचम्**) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (**आवदानि**) उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो।

आगे चलकर महर्षि लिखते हैं—क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों को पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र-इन्द्रिय क्यों रचता? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं और जहाँ कहीं निषेध किया है उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

—अथर्व० ११।५।१८

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवति विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वैसे (**कन्या**) कुमारी (**ब्रह्मचर्येण**) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादिशास्त्रों को पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवति होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् (**युवानम्**) पूर्ण युवावस्था युक्त पुरुष को (**विन्दते**) प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।

इस नियम में सभी आर्यों को वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने का आदेश दिया गया है। इससे यह शङ्का उत्पन्न होती है कि आर्यसमाज केवल ब्राह्मणों का समाज है, क्योंकि वेद अध्ययन-अध्यापन का कार्य केवल ब्राह्मणों का होता है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का मुख्य कार्य-क्रमशः रक्षा करना, धनोपार्जन करना व सेवा करना है। यदि ये वर्णस्थ लोग भी वेदाध्ययन में ही रत रहें तो सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाए। इस शङ्का के निवारणार्थ यहाँ सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं— "क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती।....................इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्य शास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें।.............इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए।" स्पष्ट है कि अपने-अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्त्तव्य कर्मों का पालन करने के लिए वेद का पढ़ना सभी वर्णों के लिए आवश्यक है। विद्या के अभाव में कोई भी व्यक्ति अपने वर्ण के कर्त्तव्यों का पालन सुचारु रूप

से करने में समर्थ न हो सकेगा।

यहाँ दो बातें और विचारणीय हैं। प्रथम यह कि आर्यसमाज के सदस्यों का दोहरा कर्त्तव्य है। उनके लिए वेद का पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है, उसे पढ़कर तदुपरान्त अन्यों को पढ़ाना भी उनका कर्त्तव्य है, किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। पढ़ने और पढ़ाने के साथ ही वेद को सुनना और सुनाना भी चाहिए। जो व्यक्ति स्वयं पढ़ नहीं सकता वह पढ़ा भी नहीं सकेगा, किन्तु वह दूसरों से वेदोपदेश सुन तो सकता है और सुने हुए उपदेश को दूसरों को भी सुना सकता है। इस प्रक्रिया का लाभ यह होगा कि वेदज्ञान का प्रचार बड़ी सुगमता से सभी लोगों में हो सकेगा। पढ़ने-पढ़ाने के लिए विद्यालय और सुनने-सुनाने के लिए मञ्च का होना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि इस नियम में वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने को केवल धर्म ही नहीं वरन् परम धर्म बतलाया गया है। अग्नि का धर्म ताप या उष्णता है। यदि अग्नि में ताप न रहे तो उसे अग्नि की संज्ञा नहीं दी जा सकती, उसे तो राख कहेंगे। इसी भाँति आर्यसमाज के सदस्यों का परम धर्म वेद का पढ़ना-पढ़ाना व सुनना-सुनाना है। यदि कोई आर्य इस धर्म का पालन नहीं करता तो उसे हम मनुष्य तो कह सकते हैं, उसे प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, व्यापारी सभी कुछ कह सकते हैं, परन्तु उसे आर्यसमाजी कदापि नहीं कह सकते। यह भी सत्य है कि वेद का पढ़ना-पढ़ाना तभी सम्भव है जबकि हमारे पास वेद पुस्तक उपस्थित हो। इसका अर्थ यह निकला कि प्रत्येक आर्यसमाजी के घर में वेद-ग्रन्थों का होना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं है, तो वह आर्यसमाजी कहलाने का अधिकारी नहीं है।

यह नियम आर्यसमाज का व्यावर्तक गुण है, जो इसे अन्य साम्प्रदायिक संगठनों से पृथक् कर देता है। आर्यसमाज की भाँति ईश्वर-विश्वासी संगठन अनेक हैं। पौराणिक हिन्दु,

मुसलमान, ईसाई आदि सभी ईश्वर में विश्वास रखते हैं। नैतिकता के अनेक गुणों में आर्यसमाज की भाँति उनका भी विश्वास है, किन्तु वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना एक ऐसा धर्म है, जो केवल आर्यसमाज के पास है।

वेदाध्ययन के लिए महर्षि दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास में कतिपय पूर्व दशाओं का निर्धारण किया है जिनकी ओर आर्यसमाज को विशेष ध्यान देना चाहिए। वेद का अध्ययन तभी सम्भव है जबकि उससे पहिले कई वर्ष तक महाभाष्य, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत के अच्छे प्रकरण, षड्दर्शन, दशोपनिषद् और चारों ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण हो जाए। इस प्रकार इस नियम का अन्तर्निहित क्षेत्र अति व्यापक है।

इस नियम के आधार—वेद-मन्त्र

१. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्म राजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥

—यजुः० २६।२

इस मन्त्र का अर्थ ऊपर लिख चुके हैं।

२. ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥

—अथर्व० १।१।१

भावार्थ—तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सबका तत्त्वज्ञान वेदवाणी के स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें।

चौथा नियम

सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् इसके जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाज में रहता हुआ वह कई प्रकार के समूह बना लेता है। एक दृष्टि से सभी समूहों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है— स्वसमूह और परसमूह। स्वसमूह के सभी सदस्य अपने को उस समूह के अन्दर रहनेवाला मानते हैं और परसमूह के सदस्यों को अपने से बाह्य समझते हैं। उनके प्रति उपेक्षा, तिरस्कार, विरोध, भय, रोष और कभी-कभी घृणा भी रखते हैं। अपना परिवार, अपनी जाति और अपना मज़हब स्वसमूह है। पराया परिवार, परायी जाति और पराया मज़हब परसमूह है। स्वसमूह और परसमूह में खींचातानी रहती है। इसी को तनाव या संघर्ष कहते हैं। सामाजिक संघर्ष को बढ़ावा देने में पूर्वाग्रह का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इसके कारण एक स्वसमूह के लोग अपने को परसमूह के सदस्यों से श्रेष्ठ और अधिक बुद्धिमान् मानने लगते हैं। अपनी निकृष्टतम वस्तु भी श्रेष्ठ है और पराई श्रेष्ठतम वस्तु भी निकृष्ट है। इसी भावना से समाज में कलह व अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य अपना विवेक खो बैठता है। सामूहिक तनाव की शान्ति के अनेक उपाय समय-समय पर भिन्न-भिन्न विचारकों ने सुझाये हैं। हमारी सम्मति में स्थायी शान्ति प्राप्त करने का स्वर्णिम उपाय आर्यसमाज के प्रस्तुत नियम में बतलाया गया है। बिना पूर्वाग्रह व पक्षपात के जो भी सत्य हो (चाहे वह अपने अनुकूल हो वा प्रतिकूल) उसे ग्रहण करना चाहिए

और असत्य का परित्याग कर देना चाहिए।

इस नियम के होते हुए भी कई अविवेकी पुरुषों ने आर्यसमाज पर हठ, दुराग्रह व पक्षपात का मिथ्या आरोप किया है। इन लोगों के विचार में आर्यसमाजी अपनी-अपनी कहता है, दूसरे की कभी नहीं सुनता और तार्किक होने के कारण अपनी असत्य बात को सत्य और दूसरे की सत्य बात को असत्य सिद्ध कर देता है। इन आक्षेपकर्त्ताओं का ध्यान हम महर्षि दयानन्दजी के कतिपय वाक्यों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, जिनके आधार पर प्रस्तुत नियम की रचना की गई है। महर्षि दयानन्दजी को सत्य अति प्रिय है, इसीलिए उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ का नाम 'सत्यार्थप्रकाश' रखा है। इस सन्दर्भ में वे लिखते हैं—'मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।'

महर्षि दयानन्द ने कहीं भी अपने को साम्प्रदायिक पैग़म्बरों की भाँति पूर्ण ज्ञानी नहीं कहा है। पूर्ण ज्ञानी केवल ईश्वर है, मनुष्य अल्पज्ञ व अल्पशक्तिवाला है। इसलिए उससे भूल हो सकती है। इसी भावना से महर्षि लिखते हैं—'इस ग्रन्थ में जो कहीं-कहीं भूलचूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूलचूक रह जाए उसको जानने-जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जाएगा'। कितनी निरभिमानता व निष्पक्षता थी महर्षि में? हमें इस बात पर गर्व है कि इन सौ वर्षों में अभी तक महर्षि के सिद्धान्तों में कोई भी व्यक्ति एक भी त्रुटि सिद्ध नहीं कर सका। महर्षि मानव-स्वभाव के दुर्बल पक्ष से पूर्ण परिचित थे। इसलिए वे लिखते हैं—'और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का, खण्डन वा मण्डन करेगा, उसपर ध्यान न दिया जाएगा। हाँ, जो मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य-

सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा।' महर्षि दयानन्द ने स्पष्टतः इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सभी मतों में विद्वान् हुए हैं। यह बात भिन्न है कि पक्षपात का परित्याग करने में वे कहाँ तक सफल हो सके हैं। महर्षि का कथन है, 'यद्यपि आजकल बहुत-से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त, अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें-वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे।'

आर्यसमाज पर पक्षपात का दोषारोपण करनेवाले महानुभावों से निवेदन है कि वे गम्भीरता से महर्षि के इन वाक्यों पर विचार करें—'यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ, तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मत-वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ। जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है, क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति-मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्ध करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।'' सत्य का गला घोंटने और स्वार्थ-सिद्धि के लिए अनेक पाखण्डियों ने नये-नये मतों को जन्म देकर अपने को ईश्वर घोषित किया हुआ है। इस दुष्प्रवृत्ति का घोर विरोध करते हुए महर्षि कहते हैं—'मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है, उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही

होता।'

आर्यसमाज पर हठ, दुराग्रह व पक्षपात के मिथ्यारोप का निराकरण करने के उपरान्त प्रस्तुत नियम में प्रयुक्त 'सत्य' पद के अर्थ पर विचार किया जाता है। प्रस्तुत नियम में सत्य के ग्रहण करने और असत्य के परित्याग करने का विधान है। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब सत्यासत्य का बोध हो जाए। इसीलिए महर्षि लिखते हैं—'पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्यासत्य मत सबको विदित हो जाएगा। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा।'

लोकमत में जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना सत्य और उसके विपरीत जानना असत्य कहलाता है। पुस्तक को पुस्तक और कलम को कलम जानना सत्य और विपरीत जानना असत्य होता है। सत्य की यह परिभाषा अपूर्ण है। अनेक अवसर ऐसे आते हैं जब हम किसी वस्तु के वास्तविक रूप को जानते तो हैं, परन्तु उसको वैसा कहते नहीं हैं। आत्मा और मन से जैसा जानते हैं, ठीक वैसा वाणी से नहीं कह पाते। यह सत्य नहीं वरन् असत्य है। किसी व्यक्ति ने एक घटना को अपने नेत्रों से देखा है। वह उसका सही रूप जानता है और वैसा ही अन्य पुरुषों के सम्मुख मौखिक कहता है, परन्तु साक्षी के समय वैसा लिखकर देने के लिए तैयार नहीं है। ऐसे भी व्यक्ति मिलते हैं जो किसी पदार्थ के सही रूप को जानते हैं, ठीक वैसा ही कहते भी हैं और वैसा ही लिखकर दे भी देते हैं, परन्तु आचरण में वैसा नहीं लाते। 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।' एक व्यक्ति इस नियम को इसी रूप में कहता भी है और लिखता भी है, परन्तु इसे आचरण में नहीं लाता, इसलिए इस व्यक्ति को सत्यवादी नहीं कहा जा सकता, अतः सत्य की पूर्ण

परिभाषा यह है—'जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहलाता है।' 'सत्यभाषण जोकि तेरे आत्मा, मन, वाणी में है वह सत्य और जो इससे विपरीत हैं, वह मिथ्याभाषण है।' सत्य त्रिकालाबाधित होता है, वह तीनों काल में एक-सा ही रहता है। दो और दो का योग सदैव चार होता है, अतः दो और दो का योग चार कहना सत्य और अन्यथा कहना असत्य है।

सत्यासत्य की परिभाषा के बाद सत्य प्राप्ति के साधन का विवेचन आवश्यक है। राजनीति में आजकल प्रजातन्त्र-पद्धति में सत्यासत्य का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है। ९९९ व्यक्तियों का एक विषय पर एकमत है, परन्तु १,००० व्यक्तियों का मत उसके विपरीत है। इस स्थिति में ९९९ व्यक्तियों के मत का कोई मूल्य नहीं भले ही विद्या में वे १,००० व्यक्तियों से अधिक योग्यता रखते हों। आर्यसमाज को यह पद्धति मान्य नहीं है। एक सहस्र मूर्खों के मुक़ाबले में एक विद्वान् की सम्मति अधिक मान्य है। प्रयोगशाला में एक वैज्ञानिक प्रयोग करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। दूसरा वैज्ञानिक भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचता है, किन्तु इनके निष्कर्ष सर्वसाधारण की मान्यताओं से मेल नहीं खाते। क्या इस स्थिति में वैज्ञानिक इन लोगों के बहुमत के आधार पर अपने निष्कर्ष में परिवर्तन कर डालें? यदि ऐसा होने लगे तो सारा वैज्ञानिक अनुसन्धान एक उपहास के अतिरिक्त और क्या रहेगा?

सत्यासत्य का निश्चय करने के एक सरल व व्यावहारिक उपाय पर विचार करना यहाँ अभिप्रेत है। जैसाकि हम आरम्भ में लिख चुके हैं, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए विचारों के आदान-प्रदान से वह अपने ज्ञान में अभिवृद्धि करता है। समाज से वह कुछ सीखता है और उसे सिखाता है। इसके लिए शङ्का-समाधान, वाद-विवाद तथा

शास्त्रार्थ बड़े उपयोगी उपाय सिद्ध होते हैं। आर्यसमाज का प्रारम्भिक युग शास्त्रार्थ-युग था। इसी का परिणाम था कि सर्वसाधारण जनता वादी, प्रतिवादी के तर्क सुनकर अपने ज्ञान में वृद्धि करती थी और बिना अधिक परिश्रम किये ही सत्यासत्य का निर्णय कर लेती थी। इस पद्धति की उपयोगिता के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्दजी का विचार है—'जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाए तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्यजाति का मुख्य काम है।' 'यदि वादी-प्रतिवादी सत्यासत्य निश्चय के लिए वाद-प्रतिवाद करें तो अवश्य निश्चय हो जाए।' महर्षि ने अपने लेखन व भाषण में इसी पद्धति का अनुसरण किया है, अतः वे अपने अनुभव के आधार पर लिखते हैं—'जैसे मैं अपना या दूसरे मत-मतान्तरों का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूँ, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् लोग करें तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एकमत होकर सत्य की प्राप्ति सिद्ध न हो।'

वाद-विवाद में तीन सावधानियाँ अवश्य बर्तनी चाहिएँ—१. पक्षपातरहित होना, २. निर्भीकता के साथ दूसरों के दोषों का प्रकाशन, ३. वाद-विवाद का उद्देश्य दूसरे को मानसिक पीड़ा देकर उसे हानि पहुँचाना न हो। दूसरों के दोषों के प्रकाशन के सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों को आपत्ति हो सकती है कि दूसरों के दोष बखान करने से वे लोग अप्रसन्न होंगे और पारस्परिक कलह बढ़ेगा। इसके उत्तर में हमारा कथन है कि मनुष्य को जब तक अपने दोष का ज्ञान न होगा, वह उसे दूर कैसे कर सकेगा? दूसरे के चेहरे पर

लगी कालिमा को दूर करने के लिए उसकी ओर संकेत करने का साहस तो बटोरना ही पड़ेगा। हाँ, ऐसा करने से पूर्व अपना दोष-निवारण करना आवश्यक है। मद्यप द्वारा मद्यपान की बुरी लत को त्यागने के उपदेश का कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है? इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द का यह कथन बड़ा ही उपयुक्त है—"अस्तु जो हो, परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते, किन्तु दूसरों के दोष देखने में अत्युत्सुक रहते हैं। यह न्याय की बात नहीं, क्योंकि प्रथम अपने दोष देख, निकालने के पश्चात् दूसरे के दोषों में दृष्टि देके निकालें।" इसमें तो दो मत नहीं हो सकते कि सदा प्रिय और हितकारक बोलना चाहिए, परन्तु यह भी ध्यान रहे—"जो-जो दूसरे का हितकारक हो और बुरा भी माने तथापि कहे बिना न रहे।" दुखती आँखों में मैल को धुलवाना बच्चे को प्रिय भले ही न हो, किन्तु दयालु माँ तो अपने पुत्र के मुख को स्वच्छ करने के लिए इस अप्रिय काम को करती ही है। दूसरों के दोषों का प्रकाश करने से कतरानेवाले या तो कायर होते हैं या चापलूस।

सत्यासत्य के अन्वेषक को दूसरों के हित के लिए उनकी अप्रसन्नता का खतरा मोल लेना ही पड़ता है। महर्षि दयानन्दजी का जीवन इस बात का साक्षी है। वे लिखते हैं—"क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना, परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता।"

वाद-विवाद में तीसरी सावधानी, जिसका पहिले उल्लेख हो चुका है, यह है कि एक-दूसरे को हानि न पहुँचाई जाए। दूसरों की आलोचना करते समय महर्षि दयानन्द इस ओर

सदैव जागरूक रहे हैं। उनका कहना है—"क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है।" महर्षि की अभिलाषा थी कि सभी व्यक्ति इस नियम का पालन करें। "इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्त्तना अति उचित है।....यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है।"

सत्यासत्य का निर्णय करने के जिस व्यावहारिक उपाय का हमने विवेचन किया है, उससे कई अवस्थाओं में सफलता प्राप्त नहीं हो पाती। वाद-विवाद में प्रायः यह देखा जाता है कि जिसको एक सत्य कहता है, दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के वाद-विवाद में उक्त सावधानियों का पूर्ण पालन नहीं किया जाता। महर्षि दयानन्द ने सत्यासत्य के निर्णय करने के पाँच महत्त्वपूर्ण साधन और बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

"**पहला**—ईश्वर, उसके गुण-कर्म-स्वभाव और वेदविद्या। **दूसरा**—सृष्टिक्रम। **तीसरा**—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण। **चौथा**—आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त और **पाँचवाँ**—अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान।" इन्हीं पाँच साधनों को कुछ विस्तार से सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में कुछ क्रम-भेद से प्रस्तुत किया है—परीक्षा पाँच प्रकार से होती है—

एक—"जो-जो ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो वह-वह सत्य और उससे विपरीत असत्य है। **दूसरा**—जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह-वह सत्य और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है, वह सब असत्य है, जैसे कोई कहे कि बिना माता-पिता के योग से लड़का

उत्पन्न हुआ, ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है। **तीसरी**—'आप्त', अर्थात् जो धार्मिक विद्वान्, सत्यवादी निष्कपटियों का सङ्ग उपदेश के अनुकूल है, वह-वह ग्राह्य और जो-जो विरुद्ध वह अग्राह्य है। **चौथी**—अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल, अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूँगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा और **पाँचवीं**—आठों प्रमाण, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव।"

सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए वाद-विवाद करते समय इन पाँचों परीक्षाओं में से किस-किसका किस क्रम से उपयोग किया जाए, यह वादी की योग्यता तथा उसकी विचारधारा पर निर्भर करता है। यदि वह अस्तिक है और वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता है तो प्रथम परीक्षा का उपयोग लाभकारी रहेगा। यदि वह नास्तिक है तो सर्व प्रथम पाँचवीं परीक्षा का उपयोग करना चाहिए और उसके बाद दूसरी। चौथी परीक्षा सबके लिए समान रूप से उपयोगी रहेगी।

सत्यासत्य का निर्णय हो जाने पर भी प्रत्येक व्यक्ति उसका ग्रहण और त्याग कर सके, यह आवश्यक नहीं है। सत्य को जानते हुए उसमें प्रवृत्ति नहीं होती और असत्य को जानते हुए उससे निवृत्ति नहीं हो पाती। ऐसा करने के लिए दृढ़-सङ्कल्प, स्वाध्याय और सत्संग आवश्यक हैं। इस नियम में 'सर्वदा' पद महत्त्वपूर्ण है। सत्य के ग्रहण और असत्य को छोड़ने पर बल देने के लिए यह पद नियम में रक्खा गया है। इसका आशय यह है कि आर्यसमाज के प्रत्येक सदस्य को प्रत्येक स्थिति में सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में उद्यत रहना चाहिए।

इस नियम के आधार—वेद-मन्त्र

१. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ —यजुः० १।५

अर्थ—हे सत्यभाषण आदि धर्मों के पालन करने और सत्योपदेश करनेवाले परमेश्वर मैं जो झूठ से अलग सत्यव्रत, अर्थात् सत्य बोलना, सत्य मानना और सत्य करना है, उसका अनुष्ठान, अर्थात् नियम से ग्रहण करने वा जानने और उसकी प्राप्ति की इच्छा करता हूँ। मेरे उस सत्यव्रत को आप अच्छी प्रकार सिद्ध कीजिए, जिससे मैं उक्त सत्यव्रत के नियम-पालन करने में समर्थ होऊँ और मैं इसी प्रत्यक्ष सत्यव्रत के आचरण का नियम करूँगा।

२. सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता।

—अथर्व० कां० १२।(१)।२।५

अर्थ—(**सत्येनावृता**) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों॥ (**श्रिया प्रावृता**) हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभ गुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्त्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होके, शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उसको चारों ओर पहिनके शोभित होओ (**यशसा परीवृताः**) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश, अर्थात् उत्तम कीर्त्ति से युक्त होना चाहिए।

पाँचवाँ नियम

सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ।

किसी कार्य को आरम्भ करने से पूर्व उसके लिए तैयारी करना आवश्यक होता है। चतुर्थ नियम में आर्यसमाज के प्रत्येक सदस्य को सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग करने के लिए सर्वदा उद्यत करके तदनुसार सब काम करने का आदेश इस पाँचवें नियम में दिया गया है।

इस नियम में सब काम धर्मानुसार करने का विधान है। धर्म शब्द सुनते ही बहुत-से व्यक्ति बिदक जाते हैं। तथाकथित उच्च शिक्षित समुदाय में धर्म का उपहास करना एक फ़ैशन बन गया है। केवल भारतवर्ष में ही नहीं वरन् संसार के अन्य देशों में भी गत अनेक वर्षों से धर्म के प्रति घृणा और विद्रोह चला आ रहा है।

फ्राँस के प्रसिद्ध विद्वान् बर्थोले ने अपने एक व्याख्यान में कहा था—

"The day of Religion has passed and religion must now be replaced by science." अर्थात् धर्म के दिन चले गये। अब धर्म का स्थान विज्ञान लेगा।

रूस के प्रसिद्ध विद्वान् टॉलस्टाय ने कहा था—"Religion is obsolete : belief in any thing but science is ignorance. Science will arrange all that is needful and one must be guided in life by science alone." अर्थात् धर्म का युग चला गया। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर विश्वास करना भूल है। जिस किसी वस्तु की हमें आवश्यकता है, वह सब विज्ञान से प्राप्त हो जाती है।

जीवन का दर्शन केवल विज्ञान ही होना चाहिए।

धर्म का विरोध करने में दो कदम आगे बढ़ाते हुए कुछ लोगों ने तो यह कहना शुरू कर दिया है—"आज जबकि विज्ञान ने अपने अद्भुत, अपूर्व आविष्कारों और अन्वेषणों से दुनिया की काया पलट दी है, हमें इस बात का अन्तिम फ़ैसला कर लेना है कि धर्म और ईश्वर की कल्पना झूठी, हानिकारक और अवैज्ञानिक तो है ही, वह व्यक्ति और समाज के लिए अनावश्यक भी है और इसलिए धर्म और ईश्वर को हमें सदा के लिए दफ़ना देना है ताकि मानवसमाज भय और आतंक से मुक्त होकर सही माने में और अधिक समृद्ध व सुखी बन सके। धर्म की कल्पना चाहे वह किसी भी खुराफ़ाती दिमाग़ की उपज क्यों न हो एक ऐसी कल्पना है, जिसके बल पर थोड़े से धूर्त और चालाक लोग आज तक अपनी उदरपूर्त्ति करते आ रहे हैं।"[१]

धर्म से समाज को क्या मिलता है, इस सम्बन्ध में आगे चलकर वही लेखक लिखता है—"धर्म से समाज को घृणा, वैमनस्य, द्वेष और कटुता के सिवा क्या प्राप्त हुआ है ? धर्म ने समाज को झूठी कल्पनाओं, ग़लत परम्पराओं, रूढ़िपूर्ण मान्यताओं और अवैज्ञानिक विचारों के सिवा दिया ही क्या है ?....धर्म ने व्यक्ति और समाज को पंगु बना दिया है, उसे निकम्मा और अकर्मण्य कर दिया है और जनमानस में नपुंसकता के विषबीज बो दिये हैं।"[२]

जीवन में धर्म की उपादेयता के सम्बन्ध में लेखक का स्पष्ट मत है—"धर्म और ईश्वर की कोई उपादेयता नहीं है। उलटे ये जीवन को अधिक कुण्ठाग्रस्त, कठोर, विचित्र और विपन्न बनाते हैं। धर्म जीवन की सरसता को समाप्त

१. सरिता अगस्त (द्वितीय) १९७३ ई०, पृष्ठ ५१
२. वही, पृष्ठ ५४

करता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता को हरता है। धर्म व्यक्ति को परान्नभोजी, निष्क्रिय, निकम्मा, ढोंगी, पाखण्डी और बेईमान बनाता है।"[१]

धर्म के प्रति घृणा और इस प्रकार के विषवमन के दो मूलकारण हैं। एक तो गत कई शताब्दियों में धर्म के ठेकेदारों (धर्मध्वजियों) का स्वयं का आचरण और दूसरे इन धर्म-विद्रोहियों की अज्ञानता। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि हमारी पृथ्वी नारंगी की भाँति गोल है और सूर्य के चारों ओर घूमती है, परन्तु बाइबिल के आधार पर ईसाइयों का विश्वास रहा है कि पृथ्वी चपटी है। पृथ्वी को गोल कहनेवालों को इन ईसाइयों ने यातनाएँ दीं और उन्हें नास्तिक घोषित कर दिया। ईसाइयों के इस प्रकार के आचरण से वैज्ञानिकों के हृदय में धर्म के प्रति घृणा उत्पन्न होना स्वाभाविक था। पौराणिक मत में भी इसी प्रकार के कई मूर्खतापूर्ण विश्वास चले आ रहे हैं। कोई कहता है कि पृथ्वी शेष, अर्थात् सहस्र फणवाले सर्प के सिर पर टिकी है। दूसरा कहता है कि यह बैल के सींग पर ठहरी है। एक वैज्ञानिक इन गपोड़ों को कैसे सही मान सकता है ? परन्तु उससे एक भूल अवश्य हुई है। उसने धर्म के वास्तविक रूप को जानने के लिए परिश्रम न कर इन गपोड़ों को ही असली धर्म समझ लिया है। वस्तुतः धर्म और विज्ञान में विरोध है ही नहीं। "विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म-उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेता और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना।"[२] विज्ञान मनुष्य को धर्म और ईश्वर से विमुख नहीं करता वरन् उनकी ओर ले-जाता है। महर्षि दयानन्द की

---

१. सरिता, अगस्त (द्वितीय) १९७३, पृष्ठ ५५

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारः, पृ० ४५

दृष्टि में—"योगाभ्यास और विज्ञान के बिना परमात्मा भी नहीं दीख पड़ता।"[१]

विज्ञान के साथ धर्म का भी अर्थ जान लेना चाहिए। इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता आया है। यह संस्कृत का एक ऐसा शब्द है कि इसका अनुवाद संसार की किसी भी भाषा के एक शब्द में नहीं किया जा सकता। अंग्रेजीभाषा में इसका पर्याय 'रिलीजन' समझा जाता है, जिसका अर्थ एक ऐसे विश्वास से है जैसाकि मनुष्य का ईश्वर से, जिसपर वह आश्रित अनुभव करता है, सम्बन्ध जोड़ता है।[२] परन्तु धर्म शब्द का इससे अधिक व्यापक अर्थ है। यह शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है 'धारण करना', 'आलम्बन देना', 'पालन करना' किसी वस्तु के जो ऐसे गुण हैं जिनमें वह अपने रूप में धारित रहती है, उन गुणों को उस वस्तु का धर्म कहा जाता है। धर्म का अर्थ 'निश्चित नियम' व्यवस्था या सिद्धान्त या 'आचरण नियम' भी है। राजधर्म, प्रजाधर्म, वर्णाश्रम धर्म में 'धर्म' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है।

महर्षि दयानन्द को नैतिक मूल्यों में सत्य, निष्पक्षता और न्याय अत्यन्त प्रिय थे। इन्हें वे धर्म का पर्याय समझते थे। इसलिए उन्होंने धर्म की परिभाषा यह की है—'क्योंकि जो न्याय, अर्थात् पक्षपात को छोड़के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है, उसी को धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सबसे उत्तम धर्म है।'[३] जो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध

---

१. सत्यार्थप्रकाश द्वादशसमुल्लास, पृष्ठ २७२

२. "A belief binding the spiritual nature of man to an upper human Being on whom he is conscious that he is dependent."
—Standard dictionary.

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोक्तधर्मविषय, पृ० ११८

है, उसको 'धर्म' और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है उसको 'अधर्म' मानता हूँ।[१] धर्म की इस परिभाषा को स्वीकार कर तदनुसार आचरण करने पर धर्म के प्रति अनास्था, अविश्वास व घृणा स्वतः समाप्त हो जाएगी। स्वार्थवश मनुष्य जब अनेक धर्मों की रचना कर उसके अनुसार आचरण करने लगते हैं, तो पारस्परिक संघर्ष व असन्तोष अनिवार्य हो जाता है। महर्षि दयानन्द की स्पष्ट घोषणा है कि धर्म एक ही होता है अनेक नहीं। वे लिखते हैं—'सब मनुष्यों के लिए धर्म और अधर्म एक ही है, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिए।'[२] इसी बात को महर्षि ने एक दूसरे ढंग से स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं, 'धर्म सबका एक होता है वा अनेक? जो कहे अनेक होता है, तो एक-दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध? जो कहो कि विरुद्ध होते हैं तो एक के बिना दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कहो अविरुद्ध हैं, तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है। इसलिए धर्म और अधर्म एक ही हैं, अनेक नहीं।'[३]

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि यदि सब मनुष्यों का धर्म एक ही है तो शास्त्रों में वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) तथा आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास) के पृथक्-पृथक् धर्मों का विवेचन किया गया है, ऐसा क्यों? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि धर्म की यह भिन्नता व अनेकरूपता वस्तुतः वर्ण व आश्रम रूप में ही है। मानवरूप में सबका धर्म एक ही है और वह है सत्याचरण। यहाँ एक बात और विचारणीय है। महर्षि दयानन्द ने धर्म की परिभाषा में कई शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु सबसे अधिक बल सत्य

---

१. सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, सं० ३
२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोक्तधर्मविषय, पृ० १२१
३. सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लासः, पृ० २४९

पर ही दिया है। इसका स्पष्टीकरण महर्षि ने इस प्रकार किया है—

प्रश्न—धर्म और अधर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पाँचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा पालन, परोपकार करना रूप धर्म और जो इसके विपरीत, वह अधर्म कहाता है, क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म क्योंकर न कहावेगा ?

देखो ! किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है ? उसको उसने उत्तर दिया जो मैं मानता हूँ। फिर उसने पूछा और जो वह मानता है, वा जो मैं मानता हूँ, वह क्या है ? उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचरण अधर्म और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म है अथवा असत्य ? तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है। इसी का नाम धर्म जानो।[१]

धर्म के इस रूप को महर्षि दयानन्द ने प्रस्तुत नियम में पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। उनके मतानुसार धर्म का अर्थ है सत्य और असत्य को विचार करके करना, अर्थात् सत्याचरण धर्म है और इसके विपरीत अधर्म है।

सत्य और असत्य को विचार करके काम करने को ही सोच-समझकर, विचारपूर्वक तथा बुद्धिपूर्वक काम करना कहते हैं। अरस्तु ने मनुष्य को विचारशील प्राणी कहा है (Man is a rational animal.) यदि वह बुद्धि का उपयोग नहीं करता तो वह निरा पशु-समान है। आश्चर्य है कि अनेक मत-मतान्तरवालों ने इस मौलिक बात की उपेक्षा करके धर्म में अक़ल (बुद्धि) का दखल (प्रवेश) वर्जित कर दिया। इसके फलस्वरूप अनेक अन्धविश्वासों ने जन्म

१. व्यवहारभानु।

लेकर धर्म के रूप को विकृत कर दिया। अपने इस विचार की पुष्टि में हम बाइबिल से दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, 'तब परमेश्वर ने उसे कहा कि तेरे हाथों में यह क्या है और वह बोला कि छड़ी। तब उसने कहा कि उसे भूमि पर डाल दे और उसने उसे भूमि पर डाल दिया और वह सर्प बन गई और मूसा उसके आगे से भागा। तब परमेश्वर ने मूसा से कहा कि अपना हाथ बढ़ा और उसकी पूँछ पकड़ ले, तब उसने अपना हाथ बढ़ाया और उसे पकड़ लिया और यह उसके हाथ में छड़ी हो गई। तब परमेश्वर ने उसे कहा कि फिर तू अपना हाथ अपनी गोद में कर और उसने अपना हाथ अपनी गोद में किया। जब उसने उसे निकाला तो देखा कि उसका हाथ हिम के समान कोढ़ी था और उसने कहा कि अपना हाथ फिर अपनी गोद में कर, उसने फिर अपने हाथ को अपनी गोद में किया और अपनी गोद से उसे निकाला तो देखा कि जैसी उसकी सारी देह थी वह वैसा फिर हो गया। तू नील नदी का जल लेके सूखी पर डालियो और वह जल जो तू नदी से निकालेगा, सो सूखी पर लोहू हो जायेगा।' —[तौ०] या० प० ४, अ० २,३,४,६,७,९

क्या कोई बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसी बातों में विश्वास कर सकता है? महर्षि दयानन्द ने इसकी समीक्षा करते हुए लिखा है—'अब देखिए! कैसे बाज़ीगर का खेल, खिलाड़ी ईश्वर, उसका सेवक मूसा और इन बातों के माननेहारे कैसे हैं? क्या आजकल बाज़ीगर लोग इनसे कम करामात करते हैं? यह ईश्वर क्या, यह तो बड़ा खिलाड़ी है। इन बातों को विद्वान् क्योंकर मानेंगे?'[1]

एक दूसरे स्थान पर तो ऐसा गपोड़ा हाँका है कि उसके समाने सारा गणितशास्त्र फेल हो गया है। वहाँ कहा है—

---

१. सत्यार्थप्रकाश, त्रयोदशसमुल्लास।

'तब यीशु ने उनसे कहा तुम्हारे पास कितनी रोटियाँ है, उन्होंने कहा पाँच रोटियाँ और दो मछलियाँ। तब उसने लोगों को भूमि पर बैठने की आज्ञा दी और उसने उन पाँच रोटियों को और दो मछलियों को लेके धन्य मानके तोड़ा और अपने शिष्यों व लोगों को दिया। सो सब खाके तृप्त हुए और जो टुकड़े बच रहे उन्होंने उनके बारह टोकरे भरे उठाये। जिन्होंने खाया सो स्त्रियों और बालकों को छोड़ पाँच सहस्र पुरुष थे।"[१]

इसकी समीक्षा में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"अब देखिए! क्या यह आजकल के झूठे सिद्धों और इन्द्रजाली आदि के समान छल की बात नहीं है ? उन रोटियों में अन्य रोटियाँ कहाँ से आ गईं। यदि ईसा में ऐसी सिद्धियाँ होतीं तो आप भूखा हुआ गूलर के फल खाने को क्यों भटका करता था ? अपने लिए मिट्टी, पानी और पत्थर आदि से मोहनभोग, रोटियाँ क्यों न बना लीं ? ये सब बातें लड़कों के खेलपन की हैं। जैसे कितने ही साधु-वैरागी ऐसी छल की बातें करके भोले मनुष्यों को ठगते हैं, वैसे ही ये भी हैं।"

अतः अन्धविश्वास के दोष से बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सत्य और असत्य को विचार करके काम करना चाहिए। इस विषय में कुछ व्यक्ति यह आपत्ति करते हैं कि व्यावहारिक जीवन में निरी सच्चाई से काम नहीं चल सकता। कई अवसर जीवन में ऐसे आते हैं जबकि मनुष्य असत्य आचरण करने के लिए बाध्य हो जाता है और असत्याचरण से ही उसका हित प्राप्त होता है। शान्तिपर्व में सनत्कुमार के आधार पर नारदजी शुक्रजी से कहते हैं—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम॥

१. सत्यार्थप्रकाश, त्रयोदशसमुल्लास।

"सच बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियों का हित हो, क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है, वही हमारे मत में सत्य है।"

बाइबिल में पॉल का कथन है—"यदि मेरे असत्यभाषण से प्रभु के सत्य की महिमा और बढ़ती है तो इससे मैं पापी क्योंकर हो सकता हूँ।"[१]

कुछ लोगों का विचार है कि रोगी, विक्षिप्त, शत्रु, चोर और अन्याय से प्रश्न करनेवाले के सम्मुख सत्य नहीं बोलना चाहिए।

महर्षि दयानन्द उपर्युक्त विचारधारा से सहमत नहीं हैं। उनके विचार में मनुष्य को प्रत्येक अवस्था में सत्य के अनुसार आचरण करना चाहिए। प्रश्नोत्तर रूप में उन्होंने अपने विचार को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

प्रश्न—क्यों जी! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। देखो व्यापार में सत्य बात कह दे, तो किसी पदार्थ का विक्रय न हो। हार-जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी खड़े न करें तो हार हो जाए इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषणादि कैसे कर सकते हैं?

उत्तर—यह बात महामूर्खता की है......................वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं, वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है, परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठ समझ ले, तो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट हो जाते हैं और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते हैं, उनको लाभ-ही-लाभ होते हैं,

---

१. "Far, if the truth of God hath more abounded through my lie unto his glory; why yet am I also judged as a sinner?"

हानि कभी नहीं, क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम धर्म और विपरीत का अधर्म है। मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वदा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करें।[१]

सत्याचरण के बिना जगद् व्यापार चलना असम्भव है। किसी राष्ट्र की प्रथम इकाई परिवार के सदस्य परस्पर व्यवहार में सत्य का पालन न करें तो क्या ऐसा परिवार चल सकता है? असत्य आचरण से एक-दूसरे के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। अविश्वास से पारस्परिक प्रेम का क्षय होता है। प्रेम अभाव से द्वेष और विरोध उत्पन्न होते हैं और इनसे घात-प्रतिघात पैदा होते हैं। अन्त में जाकर सर्वनाश हो जाता है। इसके विपरीत सत्याचरण से मनुष्य का कल्याण होता है। महर्षि दयानन्दजी लिखते हैं—"ऐसे धार्मिकों को सदा लाभ-ही-लाभ होता है और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं, इसलिए सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि सर्वथा झूठ छोड़कर सत्य ही से सब व्यवहार करें, जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर, सदा आनन्द में रहें।"[२] विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं।[३]

इस नियम के आधार—वेद-मन्त्र

१. स्वधया परिहिता श्रद्धा पर्य्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्। —अथर्व० कां० १२।५(१)।३

---

१. व्यवहारभानु।

२. वही।

३. सत्यार्थप्रकाश, दशम समुल्लास, पृष्ठ १७४

अर्थ—मनुष्य अपने ही पदार्थों का धारण करें। (**श्रद्धया पर्यूढा**) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों, क्योंकि जो सत्य है, वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं।

२. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः॥

—यजुः० १९।७७

अर्थ—इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी है, वह सब मनुष्यों के लिए उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिए, असत्य में कभी नहीं।

३. देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥

—यजुः० ३।५०

भावार्थ—सब मनुष्यों को देना-लेना, पदार्थों को रखना-रखवाना वा धारण करना आदि व्यवहार सत्य-प्रतिज्ञा से ही करने चाहिएँ।

छठा नियम

संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही व्यक्ति अपने कर्म किया करता है। यदि गहराई से देखा जाए तो ये कर्म प्रायः स्वार्थपरक होते हैं। इन कर्मों से मनुष्य अपना और अपने परिवार का हित करता है। आरम्भ में, अर्थात् बाल्यावस्था में मनुष्य स्वार्थी होता है। अपना हित करना ही उसका उद्देश्य होता है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जब तक मनुष्य अपना हित न कर ले, वह दूसरे के बारे में सोच भी नहीं सकता। भूखे भजन न होय गोपाला। एक रोगी, भूखा और अशिक्षित व्यक्ति दूसरे का क्या हित कर पाएगा? परन्तु यह भी तो सत्य है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बिना समाज के उसके जीवित रहने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। परिवार समाज का ही एक अङ्ग है। बच्चे का शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक विकास परिवार पर ही आश्रित है। ज्यों-ज्यों बच्चा विकसित होता जाता है उसका सम्बन्ध परिवार तक ही सीमित न रहकर, समाज, प्रान्त, राष्ट्र और विदेश से जुड़ जाता है। इन सबसे हमारी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है। कितनी ही प्राण-रक्षक ओषधियों के लिए हमें विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार शनैः-शनैः मनुष्य अनुभव करता है कि उसपर अन्यों का भारी ऋण है, जिससे अनृण होने के लिए उसे परहित करना चाहिए। परहित करने का नाम है परोपकार। यह मनुष्य का एक बहुत बड़ा सद्‌गुण है। सज्जन सदा परोपकार में प्रवृत्त होते हैं। इसी में उनकी शोभा है, इसीलिए

प्रस्तुत नियम में कहा है—"संसार का उपकार करना इस समाज (आर्यसमाज) का मुख्य उद्देश्य है।"

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वह उपकार केवल अपना या अपने परिवार, रिश्तेदारों, मित्रों या किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग, ग्राम, नगर, प्रान्त और देश का ही नहीं, अपितु समस्त विश्व का करना है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आर्यसमाज एक वर्ग या सम्प्रदायविशेष तक सीमित, संकुचित संगठन नहीं है। यह एक सार्वभौम संगठन हैं। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अमर-ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के अन्तर्गत स्वमन्तव्या-मन्तव्यप्रकाश में लिखा है—"मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है, उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता।"

परोपकारी-जन का महर्षि दानन्द की दृष्टि में बहुत ऊँचा स्थान है। "गोकरुणानिधिः" की भूमिका में वे लिखते हैं—"पूजनीय जन वे हैं कि जो अपनी हानि होती हो, तो भी सबके हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं और तिरस्करणीय वे हैं, जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहकर सबके सुखों का नाश करते हैं।" यही आशय इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—"क्या ऐसा कोई भी विद्वान् भूगोल में था, है और होगा जो परोपकाररूप धर्म और परहानिस्वरूप अधर्म के सिवाय धर्म वा अधर्म की सिद्धि कर सके। धन्य वे महाशय जन हैं, जो अपने तन, मन और धन से संसार का अधिक उपकार सिद्ध करते हैं।"

—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३१९-३२०

हमें परोपकार किस प्रकार करना चाहिए और उसका क्रम क्या हो? इस प्रक्रिया और क्रम को बताते हुए ही इस नियम में आगे कहा है—अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना। इन तीनों में से प्रथम शारीरिक उन्नति करना है। संसार की शारीरिक उन्नति के दो भेद हैं—एक तो अपनी शारीरिक उन्नति और दूसरी अपने से इतर संसार के सभी जनों की उन्नति। इसका कारण यह है कि शरीर के स्वस्थ होने पर ही सारे कार्य या प्रगतियाँ चलती हैं। इस सम्बन्ध में चरक का कथन विशेष विचारणीय है—

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्।
तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम्॥

—चरक, निदान० ६।७

अर्थात् अन्य सब-कुछ को छोड़कर सबसे पहले शरीर की देखभाल करे, क्योंकि अस्वस्थ होने पर अन्य सब स्वतः बेकार हो जाता है।

एतदर्थ शरीर-विज्ञान के अनुसार उचित दिनचर्या, पौष्टिक-स्वच्छ सादा और नियमित भोजन, व्यवस्थित व्यायाम, वीर्य का संरक्षण और उपयुक्त निद्रा को व्यवहार में लाना चाहिए। दूसरों की शारीरिक उन्नति के लिए अपने बन्धुओं में, बाल-बच्चों में सात्त्विक आहार की रीति प्रचलित करे। व्यायाम का स्वभाव डाले। बालकों को खेलकूद में, दौड़ने-भागने, उछलने-फाँदने में तथा अन्य अनेक साहस के कार्यों में प्रोत्साहन दे। शारीरिक हित के लिए उपर्युक्त सभी आवश्यक हैं। इनमें भोजन का प्रमुख स्थान है। मांस का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए। महर्षि दयानन्द मांस-भक्षण के प्रबल विरोधी थे। अपने उपदेशों में मांस-भक्षण का वे अत्यन्त ज़ोरदार खण्डन करते थे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में से मांस-भक्षण निषेधक कुछ सन्दर्भ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन-छादन और व्यवहार करें-करावें, अर्थात् जितनी क्षुधा हो, उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य-मांसादि के सेवन से अलग रहें।"

—समुल्लास-२

"ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का सङ्ग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा आदि कर्मों को छोड़ दें।"

—समुल्लास-३

"जो लोग मांस-भक्षण और मद्यपान करते हैं, उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं।"

—समुल्लास-१०

"और मद्य-मांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्य-मांस के परमाणुओं ही से पूरित है, उनके हाथ का न खावें।"

—समुल्लास-१०

"और जो मांस खाना है, यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है, इसलिए उनको राक्षस कहना उचित है, परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा।"

—समुल्लास-१२

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में मांसाहारी व्यक्ति नीचतम होता है। वे लिखते हैं—"शुभ गुण-युक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देनेवाले और पापीजन होंगे?"

—गोकरुणानिधिः

"हे मांसाहारियो! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं? हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओं पर, जोकि बिना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता?

क्या उनपर तेरी प्रीति नहीं है? क्या इनके लिए तेरी—

न्यायसभा बन्द हो गई है? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता और उनकी पुकार नहीं सुनता? क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता? जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।'' —गोकरुणानिधिः

शारीरिक के पश्चात् आत्मिक उन्नति का क्रम आता है। मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए केवल शारीरिक विकास पर्याप्त नहीं है। इतने अंश में तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है। पाशविक बल में मनुष्य शेर, हाथी और बैल आदि पशुओं का सामना नहीं कर सकता। इसीलिए मनुष्य को शारीरिक बल के साथ-साथ मानसिक और आध्यात्मिक बल भी उपार्जित करना चाहिए। एतदर्थ शिक्षा के द्वारा विद्या की प्राप्ति कर आत्म-अनात्म का बोध कर अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करे। प्रातः-सायं नियमितरूप से ईश्वरोपासना करे। वेद और ऋषिकृत ग्रन्थों का स्वाध्याय करे। विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान) मुमुक्षुत्व, ये चार-साधन और चार अनुबन्धों का पालन करे। इसके साथ ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार को अपने आचरण में लाये। आत्मिक उन्नति के अनेक उपाय हैं। उनमें से कुछ का संकेत यहाँ किया गया है। यह विषय बहुत विस्तृत और गम्भीर है। विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए महर्षि दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका का अध्ययन किया जाए।

इसके बाद सामाजिक उन्नति पर विचार करना है। समाज के अन्तर्गत अपना परिवार अथवा आर्यसमाजस्थ लोगों का समाज ही अभिप्रेत नहीं है, वरन् संसारभर के समाजों से अभिप्राय है। संसार में अनेक देश है, उनमें अनेक समाजें हैं। विभिन्न समाजों की सभ्यता और संस्कृति में विभिन्नता है। सबका खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल समान नहीं

है। हमें सभी का अध्ययन करके उनमें व्याप्त दोषों यथा अन्धविश्वास और कुरीतियों को दूर करना चाहिए। महर्षि दयानन्द के अनुसार संसारभर में वेद-विरुद्ध चार मत हैं—पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी और चारों की एक सहस्र से अधिक शाखाएँ हैं। इन मतों में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिए महर्षि दयानन्द ने खण्डन-मण्डन-पद्धति का प्रयोग किया है। इससे सत्यासत्य का बोध हो जाता है और बिना सत्यासत्य की जानकारी प्राप्त किये समाज-सुधार असम्भव है। सन्त तुलसीदास कहते हैं—

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥
तेहिं तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

अर्थ—दुष्टों के पापों और अवगुणों की और साधुओं के गुणों की कथाएँ—दोनों ही अपार और अथाह समुद्र हैं। इसी से कुछ गुण और दोषों का वर्णन किया गया है, क्योंकि बिना पहचाने उनका ग्रहण या त्याग नहीं हो सकता।

समाज-सुधार के लिए आर्यसमाज के प्रत्येक सदस्य को अपने समय का कुछ भाग सार्वजनिक कामों में लगाना चाहिए। हमारे समाज में जात-पात, छुआछूत, बाल-विवाह, मादक-द्रव्यों का सेवन आदि अनेक कुरीतियाँ व्याप्त हैं। उन्हें दूर करने के लिए जगह-जगह सभाओं का आयोजन किया जाए और वहाँ भजन-व्याख्यान के साथ-साथ समाज-सुधार सम्बन्धी साहित्य भी वितरित किया जाए। अपने प्रचार में कटुता न आने दें। बड़े प्रेम-प्यार के साथ अपनी बात प्रस्तुत की जाए। खण्डन करने का अर्थ दूसरे का दिल दुखाना नहीं है। महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के चतुर्दश समुल्लास में मुस्लिम मत का खण्डन करते हुए लिखते हैं—"परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सब-के-सब प्रीति, परस्पर मेल और एक-दूसरे के सुख की उन्नति करने में

प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना वा दूसरे मतमतान्तरों का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूँ, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् लोग करें, तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एकमत होके सत्य की प्राप्ति सिद्ध हो।''

इस नियम में आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य—'संसार का उपकार करना' बतलाकर उसकी प्राप्ति का उपाय शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना कहा गया है। विचारणीय यह है कि सामाजिक उन्नति को तीसरा स्थान क्यों दिया गया है? उत्तर स्पष्ट है कि जब तक कोई व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ न हो और उसमें आत्मबल का अभाव हो तो वह समाज की उन्नति कर ही नहीं सकता। सामाजिक सेवा के लिए व्यक्ति को स्थान-स्थान पर घूमना पड़ता है, पैदल, बस और ट्रेन आदि से यात्राएँ करनी पड़ती है। दुर्बल-रोगी व्यक्ति यह कार्य कर ही नहीं सकेगा और यह भी नितान्त सत्य है कि आत्मबलहीन व्यक्ति का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और पं० लेखराम आदि उपदेशकों एवं नेताओं के भाषणों का श्रोताओं पर जादू का-सा प्रभाव इसीलिए पड़ता था कि उनमें आत्मिकबल था।

सातवाँ नियम

सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्त्तना चाहिए।

समस्त संसार को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—मैं और तू। मैं एक चेतन प्राणी हूँ और तू के अन्तर्गत जड़ और चेतन दोनों आते हैं। जड़ के अन्तर्गत सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथ्वी, नदी, नाले, समुद्र, झील, तालाब, पर्वत, अग्नि, वायु और आकाश आदि सभी आते हैं और चेतन के अन्तर्गत पशु, पक्षी एवं मनुष्य आते हैं। किसी-न-किसी रूप में मेरा इन सभी से सम्बन्ध रहता है। सातवें नियम में 'सबसे' के अन्तर्गत चेतन जगत् आता है। इन सबसे एक आर्यसमाजी को कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका निर्देश इस नियम में किया गया है। हमारे व्यवहार के तीन प्रकार कहे गये हैं—१. प्रीतिपूर्वक, २. धर्मानुसार और ३. यथायोग्य।

सामाजिक जीवन की सफलता, सुदृढ़ता और विकास प्रीतिपूर्वक व्यवहार पर निर्भर करता है। प्रीति या प्रेम एक संवेग है जो एक को दूसरे से जोड़ता है या बाँधता है। यह सीमेंट का काम करता है, जो एक ईंट को दूसरी ईंट से जोड़कर एक मज़बूत दीवार का निर्माण करता है। बिना सीमेन्ट के ईंटों को एक-दूसरे के ऊपर रखते जाइए इससे एक सुदृढ़ दीवार न बन सकेगी। एक हल्के धक्के में सब ईंटें नीचे गिर जाएँगी। इसी प्रकार हज़ारों व्यक्तियों को एक स्थान पर इकट्ठा कर दीजिए। बिना प्रेम के उनमें से न परिवार बन सकेगा, न कोई अन्य सामाजिक संगठन, इसलिए हमें सबके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। हमारा यह

व्यवहार मनुष्यजाति तक ही सीमित न रहे। हमें पशुओं और पक्षियों से भी प्रेम करना चाहिए। यह तो मानना पड़ेगा कि मनुष्य के विकास में पशु-पक्षियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। दूध और अन्न का उपार्जन बिना पशुओं के सम्भव नहीं है। यह भी सत्य है कि जहाँ प्रेम होता है, वहाँ ईर्ष्या-द्वेष और हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं रहता, अतः यह नियम हमें, यह भी आदेश देता है कि नरवध और पशुवध से भी हमें बचना चाहिए।

इस प्रकार सातवें नियम के 'सबसे प्रीतपूर्वक' शब्दों से स्पष्ट होता है कि संसारभर के जितने भी मनुष्य हैं, उनसे बिना जाति, मत, मज़हब, भाषा, देश, वर्ण, ऊँचे-नीचे, अपने-पराये के भेदभाव के प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। इसका फल यह होगा कि समाज में से वैर, शत्रुता और घृणा स्वतः मिट जाएँगे, क्योंकि—

करूँ मैं दुश्मनी किससे, अगर दुश्मन भी हो अपना।
मुहब्बत ने नहीं छोड़ी जगह दिल में अदावत[1] की॥

इसके अनन्तर इस नियम में 'धर्मानुसार' व्यवहार करने का विधान है। महर्षि दयानन्द ने इस पद का अर्थ सत्य और असत्य का विचार किया है। धर्मानुसार की व्याख्या आर्यसमाज के पाँचवें नियम में देखिए। अपने बच्चे के प्रति प्रेम करना स्वाभाविक है। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि पिता मोहवश अपने पुत्र के अपराध पर उसे दण्डित न कर उसके कर्म की उपेक्षा कर देता है। यह नियम आदेश देता है कि सत्यासत्य का विचार कर, पुत्र को दण्ड अवश्य देना चाहिए अन्यथा समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। सत्य कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को बिना पक्षपात के अपने और पराये का विचार न करते हुए समानरूप में उसके शुभाशुभ कर्म

१. शत्रुता

का फल अवश्य मिलना चाहिए।

आर्यों का व्यवहार प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार तो होना ही चाहिए, परन्तु वह यथायोग्य भी हो। नियम का यह अंश बहुत महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। मनुष्यों में शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भिन्नता होती है। सबका स्वभाव व प्रवृत्ति समान नहीं होती। अतएव सबके साथ समान व्यवहार करना अनुचित है। खीर का भोजन स्वादिष्ट और शक्तिवर्धक है, परन्तु एक रोगी के लिए यह अमृतमय भोजन विष का काम करता है। इसलिए सब व्यक्तियों को समान भोजन नहीं देना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए व्यायाम और निद्रा की व्यवस्था में भी समानता नहीं हो सकती।

वैदिक व्यवस्था में मनुष्य जीवन को चार वर्ण और चार आश्रमों में विभाजित किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। वर्णाश्रमरूप में इन सबके कर्त्तव्य और अधिकार भिन्न-भिन्न हैं। इनके अतिरिक्त और अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं, यथा—स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, बन्धु-बान्धव, वृद्ध-बालक और अधिकारी और मातहत[१]। जब हममें प्रत्येक अपने-अपने पद के अनुसार, अर्थात् यथायोग्य रीति से व्यवहार करता है तो कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता और समाज में शान्ति बनी रहती है, परन्तु अपने-अपने अधिकार का अतिक्रमण करते ही संघर्ष की स्थिति बन जाती है। चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुण वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—"जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील

१. अधीन, Sub-ordinate

होते हैं, क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जाएँगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच (निम्न) वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा। विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना, क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता। पशु-पालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है, क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार से कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह विद्यारहित मूर्ख होने से विज्ञान-सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है।" —सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास

वर्ण-व्यवस्था से यह तो स्पष्ट है कि समाज में बुद्धि, विद्या, बल और धन की दृष्टि से भेद बना ही रहेगा। यदि चारों से कभी कोई अपराध हो जाता है, तो उस दशा में उन चारों को समान-दण्ड मिले अथवा समाज में उनकी हैसियत के अनुसार यथायोग्य, अर्थात् एक ही अपराध के लिए दण्ड में भिन्नता रहे। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द का लेख विचारणीय है। मनुस्मृति के आधार पर महर्षि लिखते हैं—

"और वैसे ही जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा, ब्राह्मण को चौंसठ गुणा वा सौ गुणा अथवा एक सौ अट्ठाईस गुणा दण्ड होना चाहिए, अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए।"

"इसी प्रकार साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिए।" —सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास

यथायोग्य व्यवहार का यह अनूठा नमूना है। काश कि वर्त्तमान सरकारें इस व्यवस्था को स्वीकार कर लें। यदि ऐसा होने लगे तो निश्चित है संसार से अन्याय, अत्याचार, चोरी, डकैती, हत्या, अपहरण आदि अपराध बहुत अंशों में मिट सकते हैं, "क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़ दण्ड से ही वश में आ जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे-से-छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजा-पुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए।"

—वही, षष्ठसमुल्लास

आठवाँ नियम

अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य संसार का उपकार करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक साधन छठे नियम में बतलाकर दूसरे साधन का विधान इस आठवें नियम में किया गया है। इस नियम के दो भाग हैं—१. अविद्या का नाश और २. विद्या की वृद्धि। प्रत्येक शास्त्र में उसके विषय के अनुसार विद्या और अविद्या के अनेक लक्षणादि वर्णन किये गये हैं। विस्तार भय से उन सबका यहाँ वर्णन करना सम्भव नहीं है, चूँकि आर्यसमाज के नियमों की रचना महर्षि दयानन्द ने की है, इसलिए उनके ग्रन्थों में विद्या-अविद्या के स्वरूपादि का जैसा वर्णन किया गया है, उसी पर विचार करना समीचीन होगा।

महर्षि रचित व्यवहारभानु नामक लघु पुस्तिका में यह वर्णन आता है—

प्रश्न—"विद्या और अविद्या किसको कहते हैं?"

उत्तर—"जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह 'विद्या' और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें, वह 'अविद्या' कहाती है।"

जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा जानना 'विद्या' और विपरीत जानना अविद्या है, रज्जु को रज्जु जानना विद्या और उसे सर्प समझना अविद्या है। यह परिभाषा सर्वग्राह्य है, इसमें किसी प्रकार का मतभेद होने का स्थान नहीं है। वैशेषिक दर्शन ९।२।११-१२ में इस प्रकार कहा है—**तद् दुष्टं ज्ञानम्।**

वह अविद्या [दुष्टज्ञानम्] दोषपूर्ण ज्ञान है। सूत्र का तात्पर्य यह है—जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका वैसा दीखना अविद्या है। अगला सूत्र इस प्रकार है—अदुष्टं विद्या, अर्थात् जो ज्ञान [अदुष्टम्] दोषपूर्ण नहीं है, वह विद्या है। इसी को 'प्रमा' नाम से कहा जाता है। अविद्या से विपरीत होने के कारण विद्या का स्वरूप होगा—जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना।

विद्या की यह परिभाषा बहुत रसल है, परन्तु व्यवहार में हम अनेक बार धोखा खा जाते हैं। दुष्ट व्यक्ति को सज्जन समझ लेते हैं और सादी वेशभूषा में रहनेवाले सरल प्रकृति के चरित्रवान् व्यक्ति को मूर्ख समझ जाते हैं। यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाए तो हम अनित्य जगत् को नित्य और शरीरधारी साकार पुरुष को ईश्वर समझ लेते हैं, जो वस्तुतः निराकार और सर्वदेशी है। इसलिए प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विद्या के वास्तविक स्वरूप को कैसे जाने। इस बारे में महर्षि दयानन्द व्यवहारभानु में लिखते हैं—

प्रश्न—विद्या किस-किस प्रकार और किन कर्मों से होती है?

उत्तर—चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति।

आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति॥ —महा० अ० १।१।१; आ० १

विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल................तथा अन्य भी चार कर्म विद्या-प्राप्ति के लिए हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। इन आठों की परिभाषा यहाँ देना सम्भव न हो सकेगा। इसके लिए मूल पुस्तक को ही देखना लाभकारी होगा।

महर्षि दयानन्द ने विद्या के बारे में जो लिखा है, उसके दो भाग हैं—१. विद्या का स्वरूप और २. उस स्वरूप को जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिए सुखों

को सिद्ध करना। विद्या का केवल सैद्धान्तिक ज्ञान पर्याप्त नहीं है। नारद ने सनत्कुमार ऋषि के पास जाकर कहा— "भगवन्! मुझे उपदेश दीजिए।" सनत्कुमार ने कहा— "जितना तुमने पढ़ा है, उतना बताओ, जिससे आगे मैं तुम्हें बताऊँ।" नारद ने उत्तर दिया—"मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद पढ़ा है, इनके सिवा इतिहास, पुराणरूप पाँचवा वेद, वेदों का व्याकरण, पितृ-विद्या, गणित, दैव-विद्या, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या और नृत्य, संगीत आदि भी जानता हूँ। यह सब तो मैं जानता हूँ, परन्तु मैं मन्त्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं," अर्थात् मैंने पुस्तकें तो रट ली हैं, परन्तु मुझे आत्मशान्ति नहीं मिली। इसी प्रकार संसार में पदार्थों का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कर लेनेवाले विद्वान् तो बहुत भरे पड़े हैं, परन्तु उन्हें आत्मिक शान्ति नहीं है, इसलिए विद्या की उक्त परिभाषा के दूसरे भाग में कहा गया है कि उस विद्या से मनुष्य को अपनी भलाई करनी चाहिए और साथ ही दूसरों का भी उपकार करना चाहिए। यहाँ विद्या के आचरण-पक्ष पर बल दिया गया है।

विद्या की प्राप्ति से पूर्व अविद्या का नाश करना आवश्यक है। दुरितों के दूर होने के बाद ही भद्र की प्राप्ति होती है। वस्त्र से मैल निकालने के बाद ही टिनोपाल और नील की रौनक़ आती है। इसलिए प्रस्तुत नियम में पहले अविद्या को दूर करने की बात कही गई है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश नवमसमुल्लास में योगदर्शन के सूत्र के आधार पर अविद्या के चार भाग किये हैं। प्रथम भाग है—अनित्य संसार को नित्य समझना। अपवित्र को पवित्र समझना, दूसरा भाग—दुःख को सुख समझना, तीसरा—अनात्मा में आत्मबुद्धि करना और चौथा भाग है। सब प्रकार की अविद्या का कारण सत्योपदेश का अभाव है। सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमुल्लास

में लिखा है—"जब सच्चा उपदेश न रहा तब आर्यावर्त्त में अविद्या फैलकर परस्पर में लड़ने-झगड़ने लगे, क्योंकि— **उपदेश्योपदेष्ट्रत्वात् तत्सिद्धिः। इतरथान्धपरम्परा,** अर्थात् जब उत्तम-उत्तम उपदेशक होते हैं, तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं और जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते, तब अन्ध-परम्परा बढ़ती है। फिर भी जब सत्पुरुष उत्पन्न होकर सत्योपदेश करते हैं, तभी अन्ध-परम्परा नष्ट होकर प्रकाश की परम्परा चलती है।" इस नियम का सही-सही पालन करने के लिए आर्यसमाजों, आर्यप्रतिनिधि प्रान्तीय सभाओं और सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधिसभा को योग्य आर्यपुरोहित, भजनोपदेशक और उपदेशकों की व्यवस्था करनी चाहिए। उपदेशकों को अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए प्रचुर मात्रा में वेतन-दक्षिणा दी जाए। समाज में उनको सम्मान का स्थान प्राप्त हो। आर्यसमाज की वेदि से वैदिक-सिद्धान्तों-सम्बन्धी तुलनात्मक व्याख्यान दिये जाएँ। समय-समय पर आर्यविद्वानों, विचारकों और शुभचिन्तकों की गोष्ठियाँ आयोजित की जाएँ, जिनमें प्रचार के प्रकार और समस्याओं पर गम्भीरता से विचार किया जाए।

आठवें नियम के उत्तरार्द्ध में विद्या की वृद्धि (केवल प्राप्ति नहीं) करने का आदेश है। वह कैसे हो? जैसाकि नियम के पूर्वार्द्ध में कहा है—आर्यों को सर्वप्रथम अविद्या का नाश करना चाहिए। उसके बाद विद्या-प्राप्ति की इच्छा करें। पुरुषार्थ से प्राप्त विद्या की यथावत् रक्षा और रक्षित की वृद्धि और बढ़ी हुई विद्या से संसार का उपकार करना।

नवाँ नियम

प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

नियम संख्या आठ, अर्थात् अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करने से मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति हो सकती है, परन्तु इतने मात्र से मनुष्य को सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए। छठे नियम में बतलाये गये लक्ष्य (संसार का उपकार करना) का स्मरण कराते हुए प्रस्तुत नियम में कहा गया है कि सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। केवल अपना ही ध्यान रखने से व्यक्ति स्वार्थी बन जाता है। स्वार्थ में अन्धा होकर व्यक्ति फिर कुछ भी नहीं सोचता, उसे केवल अपना-ही-अपना दिखाई पड़ता है। उचित-अनुचित का विवेक नष्ट हो जाता है और उस स्थिति में मनुष्य घृणित-से-घृणित कार्य करने में भी नहीं झिझकता। स्वार्थवश वह पशु-स्तर पर उतर आता है, तब उससे केवल अपना आपा ही दिखाई देता है। मनुष्य इस दोष से बच सके, इस हेतु उसे आदेशित किया गया है कि वह दूसरों के हित का भी ध्यान रक्खे। उसे समझना चाहिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के सहयोग से ही व्यक्ति के सारे कार्य सम्पन्न होते हैं। परस्पर आदान-प्रदान पर ही समाज ठहरा हुआ है।

यह भी विचारणीय है कि कोई भी मनुष्य अकेला पूर्णतः उन्नत होकर सुखी नहीं हो सकता, जब तक दूसरों की प्रगति न हो। आप स्वयं उच्चतम शिक्षां प्राप्त हैं, आलीशान बंगले में रहते हैं। आपका घर धन-धान्य से भरपूर है, लेकिन आपके घर के चारों ओर रहनेवाले व्यक्ति अशिक्षित, दरिद्र, दुर्गुणों में लिप्त, दिन-रात झगड़ा करनेवाले और उच्च स्वर में

परस्पर गाली-गलोज करते रहते हैं। उनके मकानों में स्वच्छता का प्रवेश वर्जित है। चारों ओर गन्दगी-ही-गन्दगी है। क्या ऐसे वातावरण में आप सुख की नींद सो सकते हैं? कारण स्पष्ट है कि मनुष्य जिस समाज में रहता है, उसमें एक का फल दूसरों को भोगना पड़ता है। कुछ विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत में मनुष्य अपने किये कर्म से ही सुखी-दुःखी होता है। अन्य के कर्म का फल अन्य नहीं भोग सकता। यह तो पूर्णतः सत्य है, परन्तु इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि क्या अन्यों के कर्मफल से नहीं, अपितु अन्यों के कर्ममात्र से अन्य सुखी-दुःखी हो सकते हैं? इस वाद के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जैसाकि पहिले कहा जा चुका है कि उसका काम बिना समाज के नहीं चल सकता, इसलिए उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि समाज का गठन हो। समाज पारस्परिक सहायता के बिना नहीं बन सकता। सहायता का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति अपने कर्म से दूसरे की आवश्यकता पूरी करे। जब इस प्रकार एक-दूसरे की आवश्यकता पूरी किया करते हैं, तभी समाज बन सकता है। एक अध्यापक छात्रों को पढ़ाकर उनके ज्ञान की पूर्ति करता है और उसके बदले में छात्र के अभिभावक अथवा सरकार उसको एक निश्चित धनराशि देते हैं, अतः स्पष्ट है कि बिना इस प्रकार की सहायता के समाज नहीं बन सकता और समाज बना हुआ मौजूद है, इसलिए अनिवार्य रीति से यह मानने के लिए बाधित होना पड़ता है कि एक के कर्म से दूसरे को हानि-लाभ पहुँचा करता है। कल्पना करो कि शीत-ऋतु में कुछ गरीब व्यक्तियों के पास शीत से अपनी रक्षा करने के साधन नहीं हैं। एक सम्पन्न दानी ने उन सबको रजाई अथवा कम्बल प्रदान कर दिये, फलस्वरूप उन सभी गरीबों का कष्ट दूर हो गया और उन सभी को सुख प्राप्त

हुआ। यहाँ सुख का कारण तो दानी का कर्म ही है। उसका फल तो दानी स्वयं पावेगा, क्योंकि यह दान उसी का कर्म था, परन्तु उसके दानरूप कर्म से अनेक गरीबों को लाभ हुआ। इसके विपरीत चोरी आदि बुरे कर्मों से जिसकी चोरी होती है, उसे दुःख पहुँचता है।

इस प्रकार दूसरों के कर्म से कोई पुरुष सुखी और दुःखी दोनों हो सकता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य हो जाता है कि जहाँ अपने को अच्छा बनाने का यत्न करे, वहाँ दूसरों को भी अच्छा बनाने का पुरुषार्थ करे। जब सभी अच्छे बन जाएँगे तब दुःख कहाँ रहेगा? हमें ऐसी प्रार्थना प्रतिदिन करनी चाहिए—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

अर्थ— हे नाथ! सब सुखी हों कोई न हो दुःखारी।
सब हों निरोग भगवन् धनधान्य के भण्डारी॥
सब भद्रभाव देखें, सन्मार्ग के पथिक हों।
दुःखिया न कोई होवे सृष्टि में प्राणधारी॥

दसवाँ नियम

सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

समाज में कई अवसर ऐसे आते हैं, जब वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्यों में विरोध उत्पन्न हो जाता है और हमारे सामने दो पक्ष उपस्थित होते हैं। एक पक्ष व्यक्ति को ही प्रमुखता देता है, उसकी दृष्टि में व्यक्ति ही सर्वोपरि है, क्योंकि व्यक्तियों से ही समाज का गठन होता है। व्यक्ति के उन्नत और समृद्ध होने पर ही समाज उन्नत और समृद्ध हो सकता है, अतः व्यक्ति को सामने रखकर ही हर व्यवस्था और नियम बनना चाहिए। व्यक्ति के हित के लिए समाज के हित की उपेक्षा कर देनी चाहिए। दूसरा पक्ष समाज को ही प्रमुखता देता है, क्योंकि समाज से पृथक् व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है। प्रत्येक बात के लिए वह जन्म से लेकर मरणपर्यन्त समाज पर ही आश्रित रहता है। वर्त्तमान में कम्यूनिस्ट विचारधारा इसी की पक्षधर है। इस विचारधारा के अनुसार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, व्यक्ति समाज के लिए भाड़े का एक टट्टू हो जाता है। कम्यूनिज्म में व्यक्ति को मिटा दिया जाता है, उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया जाता है और व्यक्ति राजनीतिक दलरूपी मशीन का एक पुर्ज़ामात्र रह जाता है, उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, वह अपने-आप कुछ नहीं सोच सकता।

वस्तुतः ये दोनों पक्ष अधूरे हैं और सामाजिक समस्या का सन्तोषजनक समाधान करने में असमर्थ हैं। प्रस्तुत दशम

नियम में इस समस्या का सही सन्तोषजनक समाधान किया गया है। इस नियम में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की सीमा नियत की गई है। हर प्रकार के सामाजिक नियम के पालन करने में परतन्त्र रहने की बात इस नियम में नहीं कही गई। बाल-विवाह, सती-प्रथा, अस्पृश्यता और दहेज आदि समाजों के कई सामाजिक नियम है, किन्तु ये नियम सर्वहितकारी न होकर अहितकारी हैं, अतः व्यक्ति को इस प्रकार के नियमों का पालन नहीं करना चाहिए और उनके विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए। वास्तव में व्यक्ति को केवल उन्हीं सामाजिक नियमों का पालन करना चाहिए जो सर्वहितकारी हों। जो कर्म व्यक्ति के लिए हितकारी प्रतीत होते हों, परन्तु जिनसे समाज के गौरव को क्षति पहुँचती हो, धर्म की हानि होती हो उन कर्मों को करने में व्यक्ति परतन्त्र है, परन्तु कुछ वैयक्तिक हितकारी नियम ऐसे भी हैं, जिनके पालन करने से सामाजिक हानि नहीं होती। एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। शास्त्र में कहा है कि व्यक्ति को प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर धर्मार्थ का चिन्तन करना चाहिए। क्या सभी व्यक्ति इसका पालन कर सकते हैं? सायं छह बजे से रात्रि दो बजे तक ड्यूटी देनेवाला कर्मचारी फैक्टरी से घर लौटकर ढ़ाई बजे सोता है और उसे लगभग पाँच-छह घण्टे की नींद भी लेनी चाहिए। उससे कैसे आशा की जा सकती है कि वह प्रातः चार बजे ब्राह्ममुहूर्त्त में जागकर धर्मार्थ का चिन्तन करे। हाँ, जो व्यक्ति रात्रि नौ बजे सोता है, उसे अवश्य प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में जग जाना चाहिए। इस बात को सभी जानते हैं कि समाज के सभी व्यक्तियों की स्थिति और साधन समान नहीं है, इसलिए अपने वैयक्तिक कर्त्तव्यों यथा—शयन, जागरण, स्नान, व्यायाम, भोजन, स्वाध्याय करना आदि में सब स्वतन्त्र हैं।

पातञ्जल-योगदर्शन में यम-नियम पालन करने की बात

कही है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये सभी सामाजिक कर्त्तव्य हैं जिनके पालन करने में प्रत्येक व्यक्ति को परतन्त्र रहना चाहिए। इनका पालन न करने पर उसे सामाजिक और राजकीय दण्ड भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए। नियम भी पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान। ये मनुष्य के वैयक्तिक कर्त्तव्य हैं। इनका पालन करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है। इनका सम्यग्रूपेण पालन करनेवाले व्यक्ति का हित होता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक और वैयक्तिक कर्त्तव्यों का पालन साथ-साथ करना चाहिए, केवल एक का पालन करने से व्यक्ति का हित नहीं हो सकता। महर्षि दयानन्द मनुस्मृति के आधार पर सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास-३ में लिखते हैं—"यमों के बिना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति, अर्थात् संसार में गिरा रहता है।"

इस दश नियम में स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का बड़ा सुन्दर समन्वय किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रिय है और परतन्त्रता अप्रिय, अर्थात् स्वतन्त्रता को सभी चाहते हैं और परतन्त्रता से घृणा करते हैं, परन्तु ध्यान रहे कि स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं है, जो स्वयं सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण है, इसलिए इस नियम में आदेश दिया गया है कि—सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र और प्रत्येक वैयक्तिक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

स्वामी जगदीश्वरानन्द कृत विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें

वेद सौरभ
स्वर्ण-पथ
प्रार्थनालोक
ईशोपनिषद्
षड्दर्शनम्
विदुर नीतिः
सामवेद भाष्य
ब्रह्मचर्य गौरव
आदर्श परिवार
सामवेदशतकम्
ऋग्वेदशतकम्
यजुर्वेदशतकम्
दिव्य-ओषधियाँ
अथर्ववेदशतकम्
घरेलू औषधियाँ
वैदिक प्रश्नोत्तरी
यजुर्वेद सूक्तिसुधा
ऋग्वेद सूक्तिसुधा
सामवेद सूक्तिसुधा
वाल्मीकि रामायण
चाणक्यनीति-दर्पण
अथर्ववेद सूक्तिसुधा
भक्ति-संगीतशतकम्
चमत्कारी औषधियाँ
वैदिक विवाह पद्धति
वैदिक सूक्ति सरोवर
कुछ करो कुछ बनो
मर्यादा पुरुषोत्तम राम
सत्यनारायण व्रतकथा
विद्यार्थियों की दिनचर्या
दिव्य रसायन : गोमूत्र
चतुर्वेदशतकम् (सजिल्द)
महाभारतम् (एक खण्ड में)
भारत की अवनति के सात कारण
सत्यार्थप्रकाश (आधुनिक हिन्दी रूपान्तर)

सत्यार्थप्रकाश के १२५वें प्रकाशन वर्ष पर विशेष

आज से लगभग ७५ वर्ष पूर्व सन् १९२५ में श्री गोविन्दरामजी ने अनेक विशेषताओं से युक्त सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण ऋषि जन्म शताब्दी के अवसर पर कलकत्ता से प्रकाशित किया था। सन् १९६२ में पं० भगवद्दत्तजी रिसर्च-स्कॉलर ने, महर्षि की मूल प्रति से शोधकर सत्यार्थप्रकाश तैयार किया था जिसमें कई विशेषताएँ थी।

निम्न विशेषताएँ युक्त यह संस्करण पं० भगवद्दत्तजी वाले संस्करण की प्रतिलिपि है—

१. पं० वीरसेनजी ने सत्यार्थ प्रकाश के सभी वेद मन्त्रों के स्वरों को शुद्धरूप दिया था। इस संस्करण में उसका अनुसरण किया गया है।
२. प्रथम समुल्लास में आये ईश्वर के १०८ नामों की अकरादि क्रम से सूची प्रथम परिशिष्ट में।
३. सत्यार्थप्रकाश में व्याख्यात पारिभाषिक शब्दों की सूची द्वितीय परिशिष्ट में।
४. सत्यार्थप्रकाश में निर्दिष्ट व्यक्तियों वा स्थनादि की अकारादिक्रम से सूची तृतीय परिशिष्ट में।
५. तेरहवें समुल्लास में भाषा में निर्दिष्ट विभिन्न शब्दों का रोमन लिपि में निर्देश चतुर्थ परिशिष्ट में।
६. चतुर्दश समुल्लास में उद्धृत कुरान की आयतों के अनुवाद के सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र देहलवी का वक्तव्य पञ्चम परिशिष्ट में।
७. सत्यार्थप्रकाश की आधार-ग्रन्थ-सूची षष्ठ परिशिष्ट में।
८. सत्यार्थप्रकाश पर उठी शंकाओं का समाधान सप्तम परिशिष्ट में।
९. अन्तिम अष्टम परिशिष्ट में अकारादिक्रम से प्रमाण-सूची।
१०. अनुच्छेदों (पैराग्राफों) पर क्रमांक इसकी एक अनूठी विशेषता है।
११. प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर उस पृष्ठ में आ रहे विषय का उल्लेख।
१२. प्रारम्भिक पृष्ठों में समुल्लास-अनुसार विस्तृत विषय-सूची।
१३. मन्त्रानुक्रमणिका सहित।

इन सब विशेषताओं के लिए स्वर्गीय श्री पं० भगवद्दत्त, स्व० श्री पं० जयदेव विद्यालंकार, स्व० श्री पं० रामचन्द्र देहलवी, स्व० पं० वीरसेन वेदश्रमी, स्वामी जगदीश्वरानन्द के हम आभारी हैं।

स्वर्गीय श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक के प्रति भी आभार, सत्यार्थप्रकाश के उनके संस्करण से तीन शब्द-सूचियाँ इस संस्करण में उद्धृत की हैं।

'वेदप्रकाश' साईज के ७५० पृष्ठों का यह संस्करण कम्प्यूटर द्वारा कम्पोज, मोटा टाईप, बढ़िया नयनाभिराम छपाई एवं मजबूत कपड़े की जिल्द में १५ अप्रैल २००० तक उपलब्ध हो जाएगा। मूल्य होगा रु० १२५.००।

विशेष प्रचारित लघु ट्रैक्ट

उपनिषत् सुक्ति-सुधा : संकलन : श्री ज्ञानचन्द शास्त्री

अनेक भाष्यकारों के सहयोग से उपनिषदों की सूक्तियों का अर्थ सहित संकलन किया गया है। ३४ विभिन्न विषयों पर २०० से अधिक सूक्तियाँ सम्मिलित हैं।

पृष्ठ सं० : ४०, आकार : २०×३०/१६

ईश्वर स्तुति-प्रार्थनोपासना मन्त्रों का प्रवचन : पं० हरिशरण

चतुर्वेद भाष्यकार पं० हरिशरणजी सिद्धान्तालंकार द्वारा ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना के मन्त्रों पर मार्मिक प्रवचन।

पृष्ठ : ३२, आकार : २०×३०/१६

गायत्री साधना : वेदप्रकाश शास्त्री

प्रस्तुत पुस्तक में सर्वसाधारण व्यक्ति के स्तर और समय को ध्यान में रखकर गायत्री साधना के तीन रूप प्रस्तुत किये गए हैं।

पृष्ठ : ३२, आकार : २०×३०/१६

नमस्ते की व्याख्या : पं० सुखदेव विद्यावाचस्पति

वैदिक साहित्य के अनुसार हमारा परस्पर सत्कार एवं आशीर्वादसूचक शब्द क्या होना चाहिए? आईए जानें।

पृष्ठ सं० : ३२, आकार : २०×३०/१६

वैदिक आदर्श : स्वामी श्रद्धानन्द

पं० हरिशरणजी विद्यालंकार द्वारा अनुवादित स्वामीजी के प्रवचनों का संग्रह।

पृष्ठ सं० : ३२, आकार : २०×३०/१६

वेद का राष्ट्रगान : श्री राजनाथ पाण्डेय

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त का भावपूर्ण काव्यानुवाद। पृष्ठ :३२, आकार :२३×३६/१६

ईश्वर-पूजा का वैदिक स्वरूप : पं० रामचन्द्र देहलवी

आइए जानें ईश्वर की पूजा का वैदिक प्रकार क्या है? अत्यन्त उपयुक्त दृष्टान्त देकर इसकी रोचकता भी बढ़ा दी गई है। कठिन उर्दू, फारसी शब्दों का भी सरलीकरण कर दिया गया है।

पृष्ठ : ४०, आकार : २०×३०/१६

आर्य मन्तव्य दर्पण : मेधार्थी स्वामी

आर्योद्देश्यरत्नमाला तथा स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश के लक्षणों पर वेद मन्त्रों से प्रमाण सहित शब्दार्थ और शिक्षा के साथ।

पृष्ठ : ९६, आकार : २०×३०/१६

ओ३म् की व्याख्या : रामसिंह आर्य भजनोपदेशक

ईश्वर के ओंकारादि नामों की स्पष्ट व्याख्या तथा उसके गुण, कर्म, स्वभाव का यथावत् बोध करानेवाली यह पुस्तक अत्यन्त सरल-सबोध शैली में प्रस्तुत है।

पृष्ठ सं० : ४८, आकार : २०×३०/१६

सन्ध्या विनय : प्रो० नित्यानन्द पटेल

पुस्तक में सन्ध्या के अर्थों के अनुरूप भाव भरी प्रार्थनाएँ दी गयी हैं। सन्ध्या को जीवनोपयोगी वनाने में सहायक ये प्रार्थनाएँ उत्तमोत्तम संकल्पों की उद्‌बोधक हैं।

पृष्ठ सं० : ११२, आकार : १७×२७/१६

ऋषि दयानन्द कीर्तिगान : पं० नारायणप्रसाद बेताब

डॉ० भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित लेखक की ऋषि दयानन्द के जीवन प्रसंगों पर लिखे गये चार प्रसिद्ध मुसद्दसों (लम्बी कविताओं) का संकलन तथा लेखक के व्यक्तित्व तथा कृतित्व की शोधपूर्ण जानकारी।

पृष्ठ सं० : ६८, आकार : २०×३०/१६

वैदिक सूक्त माला : पं० वीरसेन वेदश्रमी

आत्मपावन सूक्तम्, श्रीसूक्तम्, सरस्वती सूक्तम्, सुमंगलम सूक्तम्, संजीवनं सूक्तम्, वाणिज्य सूक्तम् का संग्रह।

पृष्ठ सं० : ९६, आकार : २३×३६/३२

आर्यसमाज के दस निय

सत्य पर आधारित एक सर्वभौम आर संगठ
नाम आर्यसमाज है। आर्यसमाज का धर्म वे है।
सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या महर्षि दयानन्द चित
में और उन सिद्धान्तों का संक्षेप 'स्वमन्तव्याम तव्य
में दिया गया है और उसका भी सार आर्यसम
नियमों में है। यह सभी नियम बहुत तर्कपूर्ण है

आर्यसमाजों के साप्ताहिक सत्संग
से पूर्व आर्यसमाज के नियमों का सम्मिलित पा
जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक आर्यशिक्षण–संस्थ
त्रायों को ये नियम कण्ठस्थ कराये जाते हैं। इस
आर्यजनों में इन नियमों का व्यापक प्रचार है। इन
की भावना और सिद्धान्तों को सही प्रकार से समझ
इस उद्देश्य से प्रस्तुत पुस्तक में नियमों की सरल
करने का प्रयास किया है। आशा है स्वाध्या
आर्यजन इस प्रयास से लाभान्वित होंगे।

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द